संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत साहित्य की लगभग पाँच हज़ार साल की विकास यात्रा में वेद से लगा कर आज तक एक समृद्ध काव्य परम्परा निरन्तर सक्रिय रही, जिसे हम लोकधर्मी कविता की परम्परा कह सकते हैं. यह काव्य परम्परा राजसभा की सँकरी दुनिया के बाहर भारतीय जनता के विराट् संसार से उपजी थी. इसे वे अनाम और अनजाने कवि विकसित करते रहे, जिन्हें दरबारों में आश्रय नहीं मिला, प्रसिद्धि और सुरक्षा नहीं मिली. राजकीय लेखकों (लिपिकारों) द्वारा उनकी रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ तैयार करवाकर ग्रन्थभण्डारों में नहीं रखी गयीं. भौतिक सुरक्षा के अभाव में उनकी रचनाओं का बड़ा हिस्सा निश्चय ही कालकवलित हो गया, पर यह पूरी परम्परा अत्यन्त प्राणवान और कालजयी थी, अपने सामर्थ्य से वह जीती रही.

यह कविता मध्यम वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग के लोगों से सीधा साक्षात्कार कराती है. एक समूची ज़िंदगी की तस्वीर यहाँ है- घर-परिवार, गृहिणी, दाम्पत्य, काम-धंधों में लगे लोग, किसान-मज़दूर-हलवाहे, लाचार बटोही- यह सब अपने परिवेश के साथ प्रस्तुत हैं.

संस्कृत की लोकधर्मी काव्य-परम्परा अभिजात काव्य-परम्परा से इस दृष्टि से भिन्न है कि वह समाज के उस वर्ग का जीवन चित्रित करती है, जो प्रमुख रूप से अभिजात काव्य-धारा में निरूपित नहीं है, इस कविता के रचनाकारों की जीवनदृष्टि भी अभिजात धारा के रचनाकारों से भिन्न है, तथा उनकी रचना एक अलग आस्वाद देती है, जिसमें तथ्यों को स्पष्टवादिता के साथ प्रकट करने का साहस है. उसका रसात्मक बोध भी अलग है, जो शांत रस की काव्यपरम्परा से कहीं-न-कहीं जुड़ता है. यह वेलास में रमने और रमाने की बजाय मोहभंग, निर्वेद और विवेक को जाग्रत करने वाली कविता है.

- भूमिका से

आवरण चित्र : संदीप राशिनकर

रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन

रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण
रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन रामकृष्ण

॥ संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा ॥

(चयन तथा अनुवाद)

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

रामकृष्ण प्रकाशन

संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा

(चयन तथा अनुवाद)

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

सर्वाधिकार : लेखकाधीन
प्रथम संस्करण : 2000
मूल्य : 250/-
आवरण एवं रूपांकन : गिरधर उपाध्याय
डी.टी.पी. कम्पोजिंग : सिल्वर स्कैन कम्प्यूटर सर्विसेज़
तिलक चौक, विदिशा (म.प्र.)
मुद्रक एवं प्रकाशक : **रामकृष्ण प्रकाशन**
सावित्री सदन, तिलक चौक,
विदिशा (म.प्र.) 464 001
दूरभाष : 32675

SANSKRIT KAVITA KI LOKDHARMI PARAMPRA
Selection & Translation by Dr. RADHAVLLABH TRIPATHI
ISBN-81-7365-120-5
Rs. 250/-

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा' का पहला संस्करण १९८६ में निकला था। इससे साहित्य प्रेमियों व समीक्षकों का ध्यान संस्कृत की एक प्राणवान् पर उपेक्षित काव्य धारा की ओर गया। 'आलोचना' 'पूर्वग्रह' 'ओर' आदि पत्रिकाओं में इस पुस्तक की समीक्षाएं आईं और उस पर बहस हुई। इस बीच लोकजीवन से जुड़े संस्कृत काव्य के और भी अंश अन्यान्य स्रोतों से मुझे मिलते गये और 'वसुधा' 'अक्षरा'. 'कृति' और 'पहल' आदि पत्रिकाओं में इनमें से कुछ के हिन्दी काव्यानुवाद मैंने प्रकाशित कराये। नामवर सिंह जी, त्रिलोचन जी, विजेन्द्र जी, आदि अग्रजों का पिछले कुछ वर्षों से आग्रह था कि पुस्तक का दूसरा संस्करण निकाला जाय। पहले संस्करण में १२५ मुक्तक अनुवाद सहित संकलित थे। प्रस्तुत संस्करण में ३२७ मुक्तक हैं। भूमिका को और व्यापक रूप दिया गया है। पूरी पुस्तक का आकार दूने से भी अधिक हो गया है।

मैं रामकृष्ण प्रकाशन के संचालक श्री सिलाकारी जी का कृतज्ञ हूँ, जो उन्होंने इस पुस्तक को साहित्यजगत् को उपलब्ध कराया।

– राधावल्लभ त्रिपाठी

भूमिका

संस्कृत साहित्य की लगभग पाँच हजार साल की विकास यात्रा में वेद से लगा कर आज तक एक समृद्ध काव्य परम्परा निरन्तर सक्रिय रही, जिसे हम लोकधर्मी कविता की परम्परा कह सकते हैं (यह काव्य परम्परा राजसभा की सँकरी दुनिया के बाहर भारतीय जनता के विराट् संसार से उपजी थी) इसे वे अनाम और अनजाने कवि विकसित करते रहे, जिन्हें दरबारों में आश्रय नहीं मिला, प्रसिद्धि और सुरक्षा नहीं मिली। राजकीय लेखकों (लिपिकारों) द्वारा उनकी रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ तैयार करवा कर ग्रन्थभण्डारों में नहीं रखी गयी। भौतिक सुरक्षा के अभाव में उनकी रचनाओं का बड़ा हिस्सा निश्चय ही कालकवलित हो गया, पर यह पूरी परम्परा अत्यन्त प्राणवान और कालजयी थी, अपने सामर्थ्य से वह जीती रही। कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि के समानान्तर रची जाती रही भारतीय जनसामान्य की कविता का कुछ थोड़ा सा अंश सुभाषित संग्रहों में संकलित मुक्तकों के माध्यम से बच पाया है। पर जितना बचा है, वह अभिजात-कविता से अलग अपनी प्रखरता और पहचान स्थापित करता है। दरबार की विलासिता और चाकचेक्य, छदम्-सौन्दर्य और लालित्य का खोल ओढ़ कर बनावटी जिन्दगी को प्रस्तुत करने वाली राजसभा के संस्कृत कवियों की कविता, सामन्तीय जीवनमूल्यों को अत्यन्त उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाली तथा जीवनदृष्टि और परम्परा की गहनता से पहचान कराने वाली कालिदास जैसे एक-दो (या अधिक से अधिक चार-पाँच) कवियों की कालजयी कविता से भी अलग - इस दूसरी परम्परा की कविता की अपनी ही एक दुनिया है। भारतीयजन की भौतिक विवशताएँ यहाँ नुमाइश की वस्तुएँ नहीं हैं, गरीबी कविता में एक सजावट की तरह इस्तेमाल नहीं की जाती, वह एक जीवन्त और झकझोर देने वाला अनुभव है। इस परम्परा का कवि विराट् जनसागर से तटस्थ नहीं है। वह उसमें गहराई से डूबता है, निरीह और प्रताड़ित जनों से एकाकार होता है, उनके स्वर को शब्द देता है, बल्कि अधिकांशतया

प्रथम पुरुष में होने के कारण इस कविता में कवि और जन के बीच फासला रह ही नहीं सका है, दोनों का तादात्म्य है। यह कविता मध्यम वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग के लोगों से सीधा साक्षात्कार कराती है। एक समूची जिन्दगी की तस्वीर यहाँ है- घर-परिवार, गृहिणी, दांपत्य, काम-धंधों में लगे लोग, किसान-मजदूर-हलवाहे, लाचार बटोही- ये सब अपने परिवेश के साथ प्रस्तुत हैं। यहाँ परिवारिक सम्बन्धों, दांपत्य, ऋतुओं, उत्सवों आदि का अनुभव ठीक वह नहीं है, जो कालिदास, अमरुक आदि की कविता में है। यह कविता गाँवों में, खेत-खलिहानों में गली-मुहल्लों में रमती है, यहाँ प्रासाद, सौध, हर्म्य या राजमार्ग का विश्व नहीं है। यहाँ ग्रीष्म चन्दन-चन्द्र-मरीचि-हर्म्यतल आदि से शीतल न बन कर अकाल का प्राणान्तक ताप लाकर उपस्थित होता है, वर्षाएँ अगणित विभाषिकाओं और बाधाओं की बाढ़ का ऊफान लेकर आती हैं, शीत की बर्फीली हवाएँ असह्य होती हैं। यहाँ अपनी दीनता और भुखमरी से जूझता वह पूरा मनुष्य उठ कर खड़ा होता है, जिसकी आकांक्षाएँ, स्वप्न और संघर्ष मरते नहीं हैं। पत्नीत्व तथा परकीया प्रेम का जो छुईमुई सा संसार अभिजात धारा के कवियों में है, उसकी तुलना में यहाँ गृहिणीं की ठोस वास्तविकताओं की बेलौस दुनिया है। बच्चे की दुनिया को बहुत संवेदनशील प्रतीक दृष्टि के साथ कालिदास भी उठाते हैं और बच्चों की दुनिया यह कविता भी उजागर करती है। पर यहाँ सिंह-शावकों के दाँत गिनने वाले और चक्रवर्ती बनने वाले वीर बालक नहीं हैं, सर्दी में अकड़ते ठिठुरते, धूप का एक टुकड़ा पाने को एक दूसरे को धकियाते-लतियाते बच्चे हैं, या किसी के घर के किवाड़ों की साँस से भीतर भोजन करते आदमी को आँख फाड़-फाड़ कर देखने वाले निरीह शिशु हैं, अथवा बरसात में गड्ढों में मछलियाँ पकड़ते लड़के हैं। सिर्फ दीनता और लाचारी में इस कविता का पर्यवसान नहीं होता। यहाँ आनंद के तार भी जुड़ते हैं, और दरबारी कविता के लिजलिजे आकण्ठ शृंगारमग्न शास्त्रीयता के घेरे में निष्प्राण होते जा रहे अवास्तविक विलास की तुलना में यह आनंद जीवन के सच्चे रस से उपजा है।

इस कविता को अभिजात कविता के द्वन्द्व में रख कर ही हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। केवल विषय-वस्तु ही नहीं, शिल्प, शब्द-संपदा, मुहावरे आदि की दृष्टि से यह बहुत सम्पन्न कविता है। कालिदास, बाण, भवभूति जैसे दृष्टि-सम्पन्न कवि निश्चय ही इस दूसरी कविता की प्रखरता और जीवन्त ऊर्जा से अछूते नहीं रहे थे। इन कवियों की इस दूसरी परम्परा की कविता से अन्तःक्रिया विचारणीय है। साथ ही यह भी गवेषणीय है कि अलंकार-शास्त्र के आचार्य इस परम्परा को कहाँ रखते हैं। संस्कृत की इस दूसरी कविता परम्परा के कवियों में से अधिकांश के नाम भी अज्ञात हैं। फिर भी योगेश्वर, शरण, केशट, दुर्गत, लंगदत्त, धरणीधर आदि कई नाम हैं, जिनकी कविता कालजयी काव्य के आगे न्यून नहीं ठहरती। अपनी प्रतिभा के उन्मेष से इन कवियों ने अपना प्रस्थान और अपना अलंकार-शास्त्र खुद गढ़ लिया था। उन्हें पहचानने और

सराहने वाला भी एक वर्ग था। सुभाषितरत्नकोश (११९९) में अभिनंद ने योगेश्वर की कविता के ऊपर कविता रचते हुए कहा है- "पहले कुछ बड़े बड़े कवि हो गये, पर नर्मदा और विन्ध्य के अंचल के निरीह लोगों, पुलिंदों, मजदूरों और उनकी स्त्रियों के जीवन में बहते अन्धड़ को अन्धड़ जैसे शब्द देना तो योगेश्वर ही जानता है।"

१० वीं शताब्दी के बाद जब बाहरी परिस्थितियों के और भी तीखे प्रहार से यह परम्परा छीजने लगी होगी, तो सुभाषितसंग्रहों में इसे सुरक्षित रखने का उपक्रम हुआ होगा। पर संस्कृत के सभी सुभाषितसंग्रह इस परम्परा का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यह परम्परा : दो सुभाषितसंग्रहों - विद्याकर के सुभाषितरत्नकोश (११००ई.) तथा श्रीधर के सदुक्तिकर्णामृत (१२०५ई.) में विशेषतया संग्रहीत है, जब कि लगभग इसी समय तैयार किये गये अन्य संकलनों - शाङ्र्गधरपद्धति (शाङ्.र्गधर) सुभाषितावलि (वल्लभदेव) सूक्तिमुक्तावली (जल्हण) में भी इस कविता का छिटपुट प्रतिनिधित्व है।

संस्कृत की लोकधर्मी काव्यपरम्परा अभिजात काव्यपरम्परा से इस दृष्टि से भिन्न है कि वह समाज के उस वर्ग का जीवन चित्रित करती है, जो प्रमुख रूप से अभिजात काव्य धारा में निरूपित नहीं है, इस कविता के रचनाकारों की जीवनदृष्टि भी अभिजात धारा के रचनाकारों से भिन्न है, तथा उनकी रचना एक अलग आस्वाद देती है, जिसमें तथ्यों को स्पष्टवादिता के साथ प्रकट करने का साहस है। उसका रसात्मक बोध भी अलग है, जो शांत रस की काव्यपरम्परा से कहीं न कहीं जुड़ता है। यह विलास में रमने और रमाने की बजाय मोहभंग, निर्वेद और विवेक को जाग्रत करने वाली कविता है। डॉ. नामवर सिंह यह मानते हैं कि "इन कविताओं में व्यक्ति" - जीते जागते मूर्त विशेष को महत्व मिला है - संभवतः पहली बार। यह एक नये यथार्थवाद का उदय है। संस्कृत कविता के परिपाटी विहित 'आदर्शवाद' से भिन्न।' (आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, १९८७, पृ.९)

आचार्य अभिनवगुप्त ने संरम्भपूर्वक शांत रस की स्थापना करते हुए उसके उदाहरण में जो पद्य उद्‌धृत किया है, उसमें कृपण तथा अगुणज्ञ स्वामी के प्रति अब तक रखे गये व्यर्थ के भक्तिभाव पर पछतावा और निर्वेद का भाव व्यक्त हुआ है (यहाँ पद्य सं. ३२६)। इस तरह के पद्यों में व्यक्तिचेतना भी है, और संसार के पाखंड और छल-छद्म से विरक्ति भी। अन्ततः यह कविता संतो और अवधूतों की काव्यधारा से जुड़ती है, जो समाज में व्याप्त विसंगतियों और आडम्बर का प्रत्याख्यान करती है। यह आनंद में सराबोर करने वाले रसवादी काव्य के समान्तर विवेक को जाग्रत करने वाली कविता है। यह कविता लोक जीवन से भी सदैव संश्लिष्ट रही है। इसलिये प्रस्तुत चयन में (खंड ३७ और ३८ अनुभव तथा दृष्टि शीर्षकों में) संतों और अवधूतों की परम्परा से अनुभावित पद्य भी संकलित किये गये हैं।

संस्कृत कवि परम्परा में निम्नलिखित धाराएँ सहस्राब्दियों तक अनवरत प्रवाहित

रहीं – (१) अलंकृत शैली में रचे अभिजात काव्य की धारा, जिसमें व्रकोक्ति और वैचित्र्य का प्राधान्य है, तथा जिसके रचनाकार रसिक नागरिक हैं, प्राय: राजसभा से भी सम्बद्ध हैं, (२) लोकजीवन में रचे बसे कवियों की काव्य धारा जिसमें स्वभावोक्ति और वस्तुजगत् के यथार्थ का निरूपण अधिक महत्त्व रखते हैं। (३) सन्तो, परमहंसों, या अवधूतो से सम्बद्ध काव्य धारा, जो स्वभावोक्ति या सहज को अपनाती है, तथा लोकजीवन के सहज स्वरूप को अपना उपजीव्य बनाती है। यह काव्यधारा जीवन के परमार्थ को साधती है, जब कि लोकजीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली उक्त दूसरी काव्य धारा इहलोक को। यो तो इन तीनों काव्यपरम्पराओं में परस्पर आदान-प्रदान या अन्त:क्रिया होती रही, पर लोकधर्मी काव्य परम्परा का संगम परमार्थ साधने वाली काव्यधारा से अपेक्षाकृत अधिक हुआ। इसलिये यह काव्यधारा संस्कृत परम्परा में संघर्ष का भाव मुखरित करने के स्थान पर निर्वेद के भाव में विश्रान्त होती दिखाई देती है। जीवन के आडम्बर, पाखंड और विसंगति को चुनौती देने वाले कवियों की ही अनेक रचनाएँ ऐसी हो सकती हैं, जिनमें अन्ततः संसार की असारता या विरक्ति का भाव मुख्य हो गया हो। स्वयं योगेश्वर, जो लोकधर्मी संस्कृत काव्यपरम्परा के प्रतिनिधि कवियों में एक है, अपने एक पद्य में (३२७) निवृत्ति में तल्लीन प्रतीत होते हैं। कहीं कहीं सामान्य लोगों के संघर्ष के बीच होने वाली हताशा को भी लोकधर्मी काव्यधारा में अभिव्यक्ति मिली है। प्रस्तुत पुस्तक में शीर्षक क्र. ३२ तथा ३७ (सेवक तथा अनुभव) में इस तरह के पद्य देखे जा सकते हैं। पर यह हताशा लोकधर्मी काव्य परम्परा में स्थायी भाव नहीं है। लोकजीवन में सतत चल रहे संघर्ष और द्वन्द्व को यहाँ ऐहलोकिक आस्था या उत्साह के स्थायी भाव का पोष करने वाले संचारी भाव की तरह की प्रयुक्त किया गया है। निवृत्तिमूलक काव्यधारा में अवश्य इस तरह की हताशा निर्वेद के स्थायी भाव का परिपोष करने वाला व्यभिचारी भाव हो गई है। ऐहिक जीवन के यथार्थ को निवृत्ति की सामग्री बना कर प्रस्तुत करने वाले पद्य भी निरंतर लोकधर्मी काव्य परम्परा के समान्तर रचे जाते रहे। कोसाम्बी द्वारा शतकत्रय के साथ संकलित विज्ञानशतक नामक काव्य में इस तरह अनेक पद्य हैं। उदाहरण के लिये –

कदाचित् कष्टेन द्रविणमधमाराधनवशा-
न्मया लब्धं स्तोकं निहितमवनौ तस्करवशात्।
ततो नित्ये कश्चित् क्वचिदपि तदाखुर्बिलगृहे
नयल्लब्धोऽप्यर्थो न भवति यदा कर्म विषमम्।। (वि.श.७१)

(कदाचित् कष्टपूर्वक अधम व्यक्ति की सेवा कर के मैंने थोड़ा सा धन पाया भी, तो उसे चोर के डर से धरती में गाड़ दिया। फिर उसे कोई चूहा अपने बिल में ले जा कर गायब कर गया। कर्म विषम हों, तो मिला हुआ धन भी साथ नहीं रहता।)

जगाम व्यर्थं मे बहुदिनमथार्थार्थिततया
कुभूमीपालानां निकटगतिदोषाकुलमतेः
हरिध्यानव्यग्रं भवितुमधुना वाञ्छति मनः
क्वचिद् गङ्गातीरे तरुणतुलसीसौरभभरे।। (वही, ७२)

(दुष्ट राजाओं के पास जा जा कर दोषों से व्याकुल बुद्धि वाले मेरे धन की लिप्सा में बहुत दिन मेरे व्यर्थ चले गये। अब मन गंगा के किसी तट पर जा कर, जिसमें खूब खिले तुलसी के झाड़ों का सौरभ हो, हरि के ध्यान में व्यग्र होना चाहता है।)

इस तरह के सुभाषित पूरी तरह निर्वेद या वैराग्य की कविताएँ नहीं हैं, न वे सरहपाद, गोरखनाथ जैसे सिद्धों या संतों की रचनाएं हैं। यह भोग और वैराग्य के सन्धिस्थल पर खड़ी कविता है। यह कविता लोकजीवन के रस में रमती है, पर जगत् की निरर्थकता से विचलित भी रहती है। भावसंधि या द्वैध की इस कविता के प्रतिनिधि कवि भर्तृहरि कहे जा सकते हैं। लोकराग और जगद्विराग के द्वन्द्व को भर्तृहरि ने जिस अंतरंग अनुभव के साथ व्यक्त किया, उसने बाद के अनेक कवियों को इस तरह की रचनाएँ करने के लिये स्फूर्त किया। यह कविता संसार के प्रेम और जुगुप्सा दोनो का प्रत्यय देती है, इसके साथ ही मोहभंग और तर्क को भी वह जाग्रत करती है। विज्ञानशतक के ही निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य हैं -

कश्चित् क्रन्दति कालकर्कशकराकृष्टं विनष्टं हठा -
दुत्कृष्टं तनयं विलोक्य पुरतः पुत्रेति हा-हा क्वचित्।
कश्चिन्नर्तकनर्तकीपरिवृतो नृत्यत्यहो कुत्रचि-
च्चित्रं संसृतिपद्धतिः प्रथयति प्रीतिं च कष्टं च नः।। ९३
नान्नं जीर्यति किञ्चिदोषधबलं नालं स्वकार्योदये
शक्तिश्चङ्क्रमणे न हन्त जरया जीर्णीकृतायां तनौ।
अस्माकं त्वधुना न लोचनवलं पुत्रेति चिन्ताकुलो
ग्लायत्यर्थपरायणोऽतिकृपणो मिथ्याभिमानो गृही।। - ९४
अन्नाशाय सदा रटन्ति पृथुकाः क्षुत्क्षामकण्ठाः स्त्रियो
वासोभी रहिता बहिर्व्यवहृतौ निर्यान्ति नो लज्जया।
गेहादङ्गणमार्जने ऽपि गृहिणो यस्येति दुर्जीवितं
यद्यप्यस्ति तथापि तस्य विरतिर्नोदेति चित्रं गृहे।। - ९५

(कोई अपने उस श्रेष्ठ पुत्र के मर जाने पर चीख चीख कर रो रहा है, जिसे कर्कशकाल ने अपने हाथ से खींच लिया है और जो असमय में नष्ट हो गया है। कोई नर्तको और नर्तकियों से घिरा हुआ कहीं पर नाच रहा है। यह

सृष्टि की विचित्र पद्धति है, जो हमारे भीतर प्रीति भी बढ़ाती है और कष्ट भी पहुँचाती रहती है। बुढ़ापे में देह के जीर्ण हो जाने के कारण औषधि खाने पर भी अन्न पचता नहीं, अपना स्वयं का कार्य भी कर पाता नहीं, चलते फिरने की भी शक्ति नहीं रही, हे पुत्र अब हमारी आँखें भी काम नहीं कर पाती - इस प्रकार चिन्ताकुल (हो कर कहता हुआ) धनपरायण तथा अतिकृपण गृहस्थ और मिथ्या अभिमान से भरा गृहस्थ घर में छीज रहा है।

अन्न खाने के लिये छोकरे सदा चिल्ल पों मचाये रहते हैं। स्त्रियों के कंठ भूख से चटख रहे हैं, तन पर कपड़े न होने से लाज के कारण वे घर से बाहर भी नहीं निकलतीं, यहाँ तक कि घर से आँगन का बुहारने तक नहीं आतीं, जिस गृहस्थ के घर ऐसी स्थिति है- आश्चर्य है, उसके भी (मन में) विरक्ति जन्म नहीं लेती।)

रसवादी और दुःखवादी जीवनदृष्टियाँ

उपर्युक्त त्रिविध काव्यपरम्पराओं के मूल में पृथक्-पृथक् रूप से दो प्रकार की जीवन दृष्टियाँ रही हैं। एक रसवाद या आनंदवाद की दृष्टि है, दूसरी दुःखवाद की। वैदिक परम्परा में एक का प्रतिनिधित्व इन्द्र करते हैं, दूसरी का वरुण। एक जीवन और जगत् में प्राप्त सामग्री को उपभोग्य मानती है और उसी में उपरत होती है। दूसरी दृष्टि जगत् की स्थूल सामग्री में ही केन्द्रित नहीं रह कर कुछ और अभीप्सा करती है। जगत् के विपर्यास का अनुभव करती हुई यह दृष्टि राग और रमने के स्थान पर वैराग्याभिमुख होती है। महाभारत में कहा गया है-

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः।।

(जैसे-जैसे असार यह लोकतंत्र विपर्यस्त होता जाता है, वैसे वैसे यहाँ से वैराग्य होता जाता है - इसमें संदेह नहीं।)

महाभारत के काव्यबोध की व्याख्या करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में महाभारतकार का यही कथन उद्धृत किया है। वे महाभारत में शांतरस की प्रधानता मानते हैं।

महाभारत की विषयवस्तु जगत् की दारुणता का अनुभव कराते हुए विवेक को जाग्रत करने के लिये विन्यस्त है। आदिपर्व में ही व्यास का यह कथन इस विन्यास की आधारभूमि बनाता है।

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसाः पृथिवी गतयौवना।।

(यह वह समय है, जिसमें सुख बीत चुका है, दारुण विभीषिका मुँह बाये खड़ी हुई है, हर आने वाला दिन और अधिक पाप लिये हुए आता है, धरती का यौवन छीज चुका है।)

रसवादी या आनंदवादी जीवनदृष्टि की तुलना में यह दृष्टि भौतिक जगत् के यथार्थ की मीमांसा अधिक निर्मम हो कर करती है। महाभारत युद्ध के पहले प्रणाम करने को आये युधिष्ठिर से भीष्म कहते हैं - 'अर्थस्य पुरुषा दासा ह्यर्था दासा न कस्यचित्'- मनुष्य अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं - यह उक्ति इसी यथार्थ बोध से प्रेरित है।

काव्य और कला में लोकधर्मी

भारतीय परम्परा लोक को ही सारे शास्त्रों, कलाओं, विद्याओं और सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल स्रोत तथा आधार मानती आई है। शास्त्रकार यह भी कहते आये हैं कि हर शास्त्र लोक के लिये, लोक का आधार ले कर निर्मित होता है, तथा वह लोक का संस्कार भी करता है। इस तरह लोक और शास्त्र एक दूसरे को उपकृत करते हैं।

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने लोक को अपने शास्त्र के लिये एक प्रमाण माना है। (नाट्यशास्त्र २५/१२०) इसके साथ ही, वे यह भी कहते हैं कि मनुष्यों के सारे कर्म, शिल्पकलाएँ और निपुणता लोक पर ही आधारित हैं, यदि लोक न रहे, तो ये सब के सब भी नष्ट हो जायेंगे-

कर्म शिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणबलानि च।
सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति।।
(नाट्यशास्त्र १९/१५१)

भरतमुनि यह भी कहते हैं कि स्थावर-चरात्मक इस लोक का निर्णय शास्त्र से नहीं किया जा सकता, अतः लोक अपना प्रमाण स्वयं है (वही, २५/१२२)।

लोकस्वभाव समस्त कलाओं की विषयसामग्री में विनियुक्त होता है। स्वभाव का अर्थ तदवस्थत्व या उसका अपना प्रकृत अथवा सहज रूप है। यह लोकस्वभाव को जब रंगमंच पर आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य - इन चार प्रकार के अभिनयों से समन्वित कर के प्रस्तुत किया जाता है, तो वही नाट्य बन जाता है -

यो ऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सो ऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।। (वह, १/११९)

लोकस्वभाव सारी कलाओं तथा काव्यों की वस्तु है, अभिनय और अलंकार आदि उसे रूप देते हैं।

प्राचीन कोश ग्रन्थों में लोक के दो मुख्य अर्थ बताये गये हैं - भुवन या सारा संसार तथा जन या लोग-बाग। पर कलाचिन्तन के संदर्भ में लोक की व्याख्या भरतमुनि के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने की है। उनका कहना है कि जनपदों में रहने वाले लोग लोक हैं। इनकी विभिन्न प्रवृत्तियों का नाट्य जैसी कलाओं में ग्रहण करना लोकधर्मी है।

लोको नाम जनपदवासी जनः। जनपदश्च देश एव।

(अभिनवभारती, भा.२, पृ. २१३)

वास्तव में जो लोक हमारी संस्कृति, धर्म, कला और शास्त्र-चिन्तन का आधार बनता है, वह हमारा या मनुष्य समाज का सहज और अविकृत रुप है। भरतमुनि जब नाट्य के लिये लोकप्रमाण की, या नाट्यधर्म के रूप में लोकधर्मी की बात करते हैं, तो उनका आशय इसी सहज अविकृत रुप से है। मनुष्य में कर्तृत्व की अनंत सम्भावनाएँ हैं, जो उसकी अकृत्रिमता से फूटती हैं। कृत्रिमता इन सम्भावनाओं का अवरोध हैं। लोक वहीं है, जहाँ जीवन और जगत् अपने अकृत्रिमता में उपलब्ध हों। वही लोक का विराट् रूप भी है। आचार्य द्विवेदी कहते है। - वस्तुतः लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य वर्तमान सब कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है - लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। 'लोक', लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथिवी और उसका व्यक्त रूप मानव - यही हमारे जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार एवं निर्माण का नवीन रूप है।"[१]

लोक के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूप साहित्य और कला में निरूपित होते हैं। व्यक्त रूप प्रत्यक्ष- गोचर है। अव्यक्त रूप भीतर छिपा सारे समाज की आकांक्षाओं, अभीप्साओं और महान् उद्देश्यों का विराट् संसार है।

लोक का सहज अकृत्रिम रूप सत्य और शिव से संवलित होता है, उसका असहज और कृत्रिम रूप असत्य और अशिव से। तब क्या कला और साहित्य में लोक के असहज और कृत्रिम रूप का चित्रण नहीं होता ? और उसके माध्यम से उसमें असत्य और अशिव का निरूपण नहीं होता ? होता है, पर रचयिता या कलाकार की दृष्टि इस असहज और कृत्रिम रूप का निरास करते हुए असत्य और अशिव का उच्छेद करने को प्रेरित करती है।

लोक का सहज, अकृत्रिम रूप जो सत्य और शिव से संवलित है, शिशुओं में,

---

१-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक पृ.६५

भोली युवतियों में और अभावग्रस्त और भौतिकता से चाकचक्य से विरहित दीन जनों में अधिक सम्भावित है। इसीलिये आचार्य लोकधर्मी और उसकी परम्परा से कविता में प्रतिफलित स्वभावोक्ति अलंकार का विचार करते हुए यह बताते हैं कि स्वभावोक्ति शिशुओं, मुग्ध युवतियों, कातर लोगों आदि के चित्रण से कविता में आती है।

लोकधर्मी की काव्यगत परिणति - स्वभावोक्ति

इस लोक का चरित ही नाट्य है (लोकस्य चरितं नाट्यमित्यवोचः - नाट्यशास्त्र ६/११)। लोकस्वभाव का ध्यान रख कर ही नाट्य की रचना और प्रस्तुति की जानी चाहिये। लोक भाषाओं की शक्ति और सीमा का विचार करके उनका भी यथोचित प्रयोग इसमें होना चाहिये-

लोकस्वभावं सम्प्रेक्ष्य नराणां च बलाबलम्।
सम्भोगं चैव युक्तिं च ततः कार्यं तु नाटकम्।।

o o o

तदेवं लोकभाषाणां प्रसमीक्ष्य बलाबलम्।
मृदुशब्दं सुखार्थं च कविः कुर्यात् तु नाटकम्।।

(नाट्यशास्त्र, १९/१४९, १५२)

इस तरह भरतमुनि का आशय यही है कि लोक का स्वभाव या सहज प्रकृत रुप नाट्य की विषयवस्तु बनता है। इस लोकस्वभाव को प्रस्तुत करने के लिये नाट्यप्रस्तुति में अपनाई गई प्रविधि को उन्होंने लोकधर्मी कहा है। इस लोकस्वभाव की सहज अविकृत प्रस्तुति में जब कुछ अंलकरण, कल्पना या विकृति (विशिष्ट कृति) जोड़ दी जाये, तो नाट्यधर्मी होती है। नाट्य के लिये लोकधर्मी भी आवश्यक है, और नाट्यधर्मी भी। नाटयधर्म के बिना नाट्यधर्मी नहीं बन सकती, क्योकि लोकधर्मी तो मूलाधार है, और नाट्यधर्मी के बिना भी पूरा नाटक खड़ा नहीं हो सकता। इसलिये नाट्यप्रस्तुति में दोनों आवश्यक है, और दोनों में पारस्परिकता का संबंध भी है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि लौकिक धर्म या लोकधर्मी मूलभूत है और नाट्यधर्म के सारे वैचित्र्य को उकेरने के लिये वह भित्ति की तरह है। लोकधर्मी के बिना नाट्यधर्म सम्भव ही नहीं है।

लौकिकधर्मस्य मूलभूतस्य नाट्यधर्मं प्रति विचित्रोल्लेखभित्तिस्थानीयत्वात्।
......लौकिकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद् धर्मोऽस्ति।

(अभिनवभारती, भा.३ पृ.२१४)

कला का धर्म लोक और कला की अपनी शर्तें इन दोनों के समन्वय से बनता है। यह संभव है कि इसमें कहीं प्रधानता लोकधर्मी की रहे, तो कहीं नाट्यधर्मी की ।

पर धर्मी के ये दोनों रूप हर कला में अनिवार्य हैं। इसीलिये अभिनवगुप्त ने धर्मी के सिद्धांत की व्याप्ति नाट्य में ही नहीं, समस्त कलाओं में विस्तार से प्रतिपादित की है। साथ ही वे काव्य में धर्मी के द्वैविध्य की प्रतिच्छवि स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति - इन दो रूपों में देखते हैं -

काव्ये च लोक-नाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरोजस्विशब्दसामर्थ्यसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता।
(ध्वन्यालोकलोचन, २/४)।

जिस प्रकार लोक के सहज प्रकृत रूप का नाट्य में अंगीकार लोकधर्मी है, उसी तरह कविता में लोक के ऐसे रूप का कथन स्वभावोक्ति है। जिस प्रकार नाट्य में लोकधर्मी भी अपेक्षित है, और नाट्यधर्मी भी, उसी प्रकार कविता में भी स्वभाव और वक्रता दोनों अपेक्षित हैं। स्वभाव की प्रधानता वाला काव्य स्वभावोक्ति और वक्रता की प्रधानता वाला काव्य वक्रोक्ति कहा जा सकता है, पर नाट्यप्रस्तुति में धर्मी के दोनों रूप कमोबेश ज़रूरी हैं, उसी तरह काव्य में भी उक्ति के दोनों रूप न्यूनाधिक्य में आवश्यक हैं। स्वभोक्ति में लोक या जीवन रहता है, और वक्रोक्ति उसे काव्य का मुहावरा देती है। इसलिये आचार्य अभिनवगुप्त उचित ही कहते हैं कि चाहे नाट्यप्रस्तुति हो या कविता दोनों में ये दो पक्ष एक साथ रहते हैं। इनके एक हिस्से में यथावृत्त वस्तुमात्र का वर्णन होता है, जिसमें कवि अपनी बुद्धि से कोई रंजन या मुलम्मा नहीं चढ़ाता इसी में समाविष्ट काव्य या नाट्यप्रस्तुति का वह हिस्सा भी रहता है जिसमें उक्त यथावृत्त वस्तुमात्र को कवि अपने कोण से देखता है।

यदा कविर्यथावृत्तवस्तुमात्रं वर्णयति नटश्च प्रयुङ्क्ते, न तु स्वबुद्धिकृतं रञ्जनावैचित्रयं तत्रानुप्रवेशयति, तदा तावान् स काव्यभागः प्रयोगभागश्च लोकधर्माश्रयः तत्र धर्मी।
काव्यनाट्ययोर्हि लोकानुसारित्वं वैचित्र्ययोगित्वं वा धर्मः।
(नाट्यशास्त्र १३/७१-७२ पर अभिनवभारती)

इस प्रकार कविता और नाट्यप्रयोग दोनों के ये दो अनिवार्य पक्ष हैं - लोकानुसारित्व और वैचित्र्ययोग। लोकधर्मी कला का अपना स्वभाव है, नाट्यधर्मी उसका विभाव है (स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि - नाट्यशास्त्र ११/१९३) कला में स्वभाव और विभाव दोनो चाहिये। एक उसे वस्तु देता है, दूसरा उसे रूप। बिना वस्तु के रूप नहीं, और बिना रूप के वस्तु नहीं हो सकती। यदि अलंकार का अर्थ केवल शब्द और अर्थ को सजाने वाली भंगिमा लेते हैं, तो स्वाभावोक्ति अलंकार नहीं है। पर यदि अलंकार को व्यापक अर्थ में समग्र काव्य सौन्दर्य और काव्यवैशिष्ट्य का पर्याय कहा जाये, जैसा दण्डी और वामन जैसे अलंकारवादी आचार्य मानते हैं, तो स्वभावोक्ति भी अलंकार है।

काव्यशास्त्र में अलंकार को केवल कथनभंगी तक सीमित कर के देखने वाले आचार्य भी हैं, और उसे कविता में प्रस्तुत लोक या जीवन की समग्रता के रूप में देखने वाले आचार्य भी हैं। पहले खेमे के आचार्यों ने स्वभावोक्ति को अलंकार के रूप में स्वीकार नहीं किया। पर दूसरे पक्ष के आचार्य स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं। दण्डी, रूद्रट, भोज आदि ऐसे आचार्यों में परिगणित किये जा सकते हैं।

काव्य में स्वभाव और विभाव दोनो की समवेत उपस्थिति अपेक्षित है। केवल स्वभाव के कथन में काव्य नहीं हो सकता, वह तो भामह की शब्दावली में वार्ता है। भामह ने स्वभावोक्ति के आग्रही काव्याचार्यों का खंडन करते हुए कहा कि सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी डेरों की ओर लौट रहे हैं - इस तरह के कथन में काव्य कहाँ है - यह तो वार्ता या सूचना भर है।

गतो ऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते।।
(काव्यांलकार,२/८७)

पर यह वार्ता भी काव्य के लिये एक आधार या भित्ति बनती है। वार्ता की सपाट भित्ति पर कवि कल्पना से रंग भर कर उसमें विच्छित्ति ला देता है। वार्ता अलंकार्य है, कविता में वह अलंकार से समवेत हो जाती है। तब अलंकार्य और अलंकार में पार्थक्य नहीं रह जाता। इस आधार पर कुछ आचार्यों ने वार्ता को भी अलंकार माना और स्वभावोक्ति को भी। भामह के विपक्ष में मन्तव्य देते हुए दण्डी ने स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का समर्थन किया, यहाँ तक कि उन्होंने वार्ता को भी काव्य के लिये अपेक्षित और उचित माना है। भामह के आक्षेप का उत्तर देते हुए दण्डी कहते हैं कि सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है तथा पक्षी डेरे की ओर लौट रहे हैं - इस तरह की (वार्ता या सूचनाएँ) भी काव्य में देशकाल को बताने के लिये उचित ही हैं (काव्यादर्श २/२४४) दण्डी स्वभावोक्ति या जाति को आद्या अलंकृति बताते हैं (काव्यादर्श २/८)

वार्ता को तो भामह ने काव्य की परिधि से बहिष्कृत कर दिया, पर स्वभावोक्ति के विषय में उन्होंने इस तरह दृढ़ प्रतिवाद नहीं किया। उनका कथन है कि स्वभावोक्ति को भी कुछ आचार्य अलंकार मानते हैं। वस्तु जगत् के किसी पदार्थ की यथायथ स्थिति का वर्णन स्वभावोक्ति है। इसका उदाहरण यह है - चिल्लाता हुआ, पुकारता हुआ, गोल गोल चक्कर लगाता हुआ, रोने का स्वर निकालता हुआ छोकरा खेत में घुस आई गायों को हाँक रहा है।"

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।।
आक्रोशयन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डले रुद्रन्।।

गां वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः ।।

(काव्यालङ्कार, २/९३-९४)

जातिकाव्य या स्वभावोक्ति के विवेचन की परम्परा

स्वभावोक्ति लोक का सहज रूप में निरूपण है। पर लोक का क्षेत्र तो अनंत है। अतः आचार्यों ने स्वभावोक्ति को परिभाषित करने में अपनी अपनी दृष्टि से उसका परिसीमन किया। इस तरह स्वभावोक्ति के दो घेरे विशेष रूप से बनते हैं। कुछ आचार्य स्वभावोक्ति को पशु-पक्षियों या बच्चों की रिझाने वाली चेष्टाओं के चित्रण में सीमित करते हैं, कुछ उसे समाज के हीन या पीड़ित वर्ग के चित्रण से भी जोड़ कर देखते हैं। पहले खेमे के आचार्यों में आठवी-नवीं शताब्दी के आचार्य उद्‌भट स्वभावोक्ति का लक्षण यह देते हैं-

क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् ।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ।।

(काव्यालङ्कारसङ्ग्रह, पृ.५३)

(मृग बालक आदि के अपनी जाति के अनुरूप हेवाक (उसकी अपनी जाति के अनुरूप प्रवृत्ति) का निबन्धन स्वभावोक्ति है।)

इसी से प्रभावित हो कर आचार्य मम्मट (११वी-१२वी श.) ने स्वभावोक्ति का लक्षण 'डिम्भ आदि का स्वक्रिया-रूप वर्णन' यह किया है।

रुद्रट (१०वी श.) अलंकारों के वर्गीकरण और अवधारणा में पुनर्व्यवस्थापन करते हैं। उन्होंने अलंकारों को चार कोटियों में बाँटा है। वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के आधार पर ये चार कोटियाँ बनतीं हैं। वास्तवमूलक अलंकार जीवन और जगत् का यथायथ स्वरूप प्रस्तुत करने पर होते हैं। इनका सामान्य लक्षण रुद्रट ने यह किया है -

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपमनतिशयमश्लेषम् ।।

(जब वस्तु का परिपुष्ट अर्थ के साथ विपर्यय, उपमा, अतिशय या श्लेष के बिना स्वरूप निरूपित किया जाता है, तो वास्तव अलंकार होते हैं।)

इस प्रकार वास्तवमूलक अलंकारों की यह कोटि जगत् का यथार्थ चित्रण करने वाली शैली है। इसके अन्तर्गत रूद्रट ने २३ अलंकार परिगणित किये हैं - सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर,

मीलित तथा एकावली।

रुद्रट की दृष्टि में इन अलंकारों में वक्रोक्ति, कल्पना या अतिशय का अतिरिक्त पुट नहीं होना चाहिये। इस तरह अपने व्यापक रूप में स्वभावोक्ति तथा रुद्रट का वास्तव अलंकार वर्ग – ये पर्याय कहे जा सकते हैं। दोनों में जीवन और जगत् का स्वभाव बताया जाता है। बताने की शैली तरह तरह की हो सकती है। यथासंख्य, परिसंख्या, पर्याय आदि इस शैली के प्रकारों को समाहित करते हैं। कथनभंगी, वक्रता या अतिशय का कुछ न कुछ अंश को इस तरह शैली के हर प्रकार में आ ही जाता है, पर वह उतने ही अंश में आता है, जितने अंश में वस्तुस्वभाव के यथायथ निरूपण के लिये वह अपेक्षित होता है। वस्तुस्वभाववैशिष्ट्य के प्रकटीकरण के लिये शैली या वक्रोक्ति का ग्रहण करना तथा वक्रोक्ति के प्रदर्शन के लिये वस्तु-वृत्त का अंगीकार ये दो परस्पर विपरीत काव्यपद्धतियाँ हैं।

वास्तवमूलक अलंकारों में भी जाति अलंकार इस दृष्टि से पृथक् परिचये है कि उसमें कथनभंगी पर नहीं, पूरा वजन कथन पर ही है। रुद्रट ने दण्डी से प्रभावित हो कर जाति का लक्षण यह दिया है –

संस्थानादिस्थानक्रियादि यद् यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ।।

(रुद्रटकृत काव्यालङ्कार ७/३)

(जिस वस्तु या व्यक्ति का संस्थान, अवस्थान तथा क्रिया आदि संसार में सदा से जैसे भी जिस रूप में प्रसिद्ध है, उसे उस रूप में अनन्यथा प्रस्तुत करना जाति अलंकार है।)

पर इसके आगे रुद्रट जाति अलंकार में विषयवस्तु का निर्धारण भी करते हैं। संसार की हर किसी वस्तु या हर किसी व्यक्ति का हू-ब-हू चित्र खींच देने से जाति अलंकार नहीं हो जाता। जाति अलंकार बच्चों, मुग्ध (भोली) युवतियों, घबराए या सताये हुये लोग, पक्षियों, व्याकुल तथा निम्न वर्ग के पात्रों की काल और अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं के चित्रण में विशेष रमणीय होता है –

शिशुमग्धयुवतिकातरतिर्यक्सम्भ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या।। (वही, ७/४)

अतः जाति अलंकार की अपनी पहचान जीवन और जगत् के सहज अविकृत रूप के चित्रण में है, यह रूप वैभव के चाकचक्य से मंडित सम्भ्रान्त वर्ग के पात्रों के चित्रण में अलभ्य है।

नमिसाधु रुद्रट के लगभग समकालीन तथा उनके टीकाकार हैं। रुद्रट के जाति

लक्षण की व्याख्या करते हुए उन्होंने जातिगत क्रिया व्यापार के चित्रण का उदाहरण माघ के इस पद्य को बताया है -

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
दधदपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः।।

(काव्यालङ्कार, पृ. ८१, शिशुपालवध, ११/४)

(प्रातः अपना पहरा समाप्त होने पर रात भर का जागा और सोना चाहता हुआ प्रहरी (पहरेदार) अगली पारी वाले अपने साथी प्रहरी को जगा रहा है। जोर-जोर से पुकारने पर भी उसका साथी कुछ अस्पष्ट हाँ-हूँ करता हुआ उसकी पुकार सुनकर भी जाग नहीं रहा है।)

नींद में डूबे प्रहरी के लिये मनुष्य शब्द का प्रयोग विशेष सार्थक है।

नमिसाधु का कथन है कि केवल सामान्य जनो के संस्थान, अवस्थान और क्रिया आदि के यथायथ चित्रण में ही जाति अलंकार को सीमित नहीं समझना चाहिये वस्तुतः (ऐसे सामान्य जनों के) जीवन के हर पक्ष को जाति अलंकार में सामने रखा जा सकता है। इसके उदाहरण में भिक्षुक की वेष-भूषा आसदि का चित्रण करने वाला यह पद्य नमिसाधु ने प्रस्तुत किया है -

वल्लीवल्कपिनद्धधूसरशिरा स्कन्धे दधद् दण्डकं
ग्रीवालम्बितमृण्मणिः परिकुथत् कोपीनवासाः कृशः।
एकः कोऽपि पटच्चरं चरणयोर्बद्ध्वाध्वगः श्रान्तवा -
नायातः क्रमुकत्वचा विरचितां भिक्षापुटीमुद्वहन्।।

(काव्यालङ्कार, नमिसाधु-टीका, ८१)

(लताओं की सूखी डोर से बाँध रखा है उसने माथा
काँधे पर और धरा है डण्डा
गले में उसके झूल रहा है गंडा
तन पर केवल एक लंगोटी
काया है उसकी दुर्बल छोटी
पैरों में बाँधे चिथड़ा
थक कर चूर हुआ
वह चला आ रहा है कोई एक
हाथ में लिये हुए खप्पर
जो सुपारी की खाल से बना हुआ है।)

रुद्रट और नमिसाधु दोनो इस तथ्य के प्रति सचेत हैं कि ऐश्वर्य के आडम्बर में जीवन की सहजता लुप्त हो जाती है, इसलिये वे दरिद्रों, निरीह बालकों तथा मुग्धा युवतियों के जीवन की स्वाभाविक स्थितियों के वर्णन में जाति अलंकार देखते हैं। रुद्रट बच्चों के निम्नलिखित वर्णन को भी जाति अलंकार के प्रसंग में उद्धृत करते हैं -

धूलीधूसरतनवो राज्यस्थितिरचनकल्पितैकनृपा: ।
कृतमुखवाद्यविकारा क्रीडन्ति सुनिर्भरं डिम्भा: ।।

(धूल में सन गई है काया
रच रहे हैं वे
अपना राज्य
और उसमें एक राजा होने की
माया।
मुंह से तरह तरह के वाद्यों के निकाल रहे सुर
खेल रहे हैं छोकरे
उन्मुक्त अनातुर।)

जाति अलंकार पर विस्तृत विचार भोज ने किया है। उन्होंने चौबीस अर्थालंकारों में जाति का सर्वप्रथम परिगणन किया है, जो दण्डी के इस कथन का अनुवर्तन है कि जाति आद्या अलंकृति या प्रथम अलंकार है। जाति का लक्षण भोज ने यह दिया है -

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुन: ।
स्वेभ्य: स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जाति: प्रचक्षते।।

(सरस्वतीकण्ठाभरण, ३/४)

(वस्तु के विभिन्न अवस्थाओं में अपने अपने निसर्ग या स्वभाव से जन्म लेने वाले अलग अलग रूपों का चित्रण जाति हैं)। जाति के भेद के तीन आधार भोज ने माने हैं - स्वरूप, आश्रय और हेतु। स्वरूप भी अनेक प्रकार का है - संस्थान और अवस्थान के अतिरिक्त वेष, व्यापार आदि अनेक प्रभेद इसके सम्भव्य हैं। मुग्ध या भोली स्त्रियाँ, बच्चे, पशु, पक्षी, तथा नीच पात्र ये जाति के आश्रय हैं तथा देश, काल, शक्ति और साधन -ये इसके हेतु हैं। संस्थान के उदाहरण में भोज ने कालिदास के कुमारसंभव से शिव पर प्रहार करने के लिये बाण छोड़ने की मुद्रा में बैठे काम देव के वर्णन का श्लोक उद्घृत किया है (स दक्षिणापाड्.गनिविष्टमुष्टि- कुमार. ३१/७०), तथा अवस्थान के उदाहरण के लिए उन्होंने महिषासुरमर्दिनी की अवस्थिति के वर्णन का एक पद्य रखा है। वेष का उदाहरण उन्होंने वसन्तोत्सव में ग्रामतरुणियो के पहनावे का वर्णन करने वाली एक प्राकृत गाथा का दिया है, तो व्यापार का उदाहरण माघ का यह पद्य (सरस्वतीकण्ठाभरण तृतीय परिच्छेद, निर्णयसागरस, पृ. ३१४)

अग्रे गतेन वसतिं परिगृह्य रम्या-
मापात्य सैनिकनिराकरणाकुलेन।
यान्तोऽ न्यतः प्लुतकृतस्वरमाशु दूरा-
दुद्बाहुना जुहुविरे मुहुरात्मवर्ग्याः।।

इस पद्य में सैनिकों की हड़बड़ी का चित्रण है। एक सैनिक ने पड़ाव के समय अच्छे तम्बू पर कब्जा कर लिया है, और उस पर कब्जा करने को आते दूसरो के झुंड को रोकने के लिये वह अपने वर्ग के लोगों की चीख पुकार कर बुला रहा है।

इस तरह जाति के अन्तर्गत वेष या व्यापार जैसे प्रभेदों से आशय यही है कि आम लोगों का जो सहज वेष है- उस का चित्रण होना चाहिये, तथा काम काज में लगे लोगों की जो सहज चेष्टाएँ (व्यापार) हैं- उनका निरूपण किया जाना चाहिये।

इसी प्रकार आश्रय नामक प्रभेद के अन्तर्गत अर्भकाश्रिता (बच्चों को विषय बना कर रची गई) जाति के उदाहरण में भोज ने वही पद्य उद्घृत किया है, जिसे भामह ने स्वभावोक्ति अलंकार पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उद्घृत किया था (आक्रोशयन्नाह्वयन्. - इत्यादि, ऊपर देखें)।

नीचाश्रया जाति के उदाहरण में भोज ने पथिकों के द्वारा पुआल माँगने पर गरूर में फूलते हालिक के वर्णन वाला पद्य (प्रस्तुत पुस्तक में क्र.१७१) जिसके कवि योगेश्वर हैं, उद्धृत किया है, जाति के हेतु बताते हुए उन्होंने देश हेतु जाति के वर्णन में रतिक्लान्त शबरियो से अध्युषित विन्ध्याचल के वर्णन वाला पद्य उद्धृत किया है (सरस्वतीकण्ठाभरण ३/८, काव्यमाला सं. पृ. ३१६) तो काल हेतु जाति के उदाहरण में वे लक्ष्मीधर का हेमन्त ऋतु का गाँव-देहात का अत्यंत सूक्ष्म पर्यविक्षण प्रस्तुत करते हैं (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य क्र. २२४) साधन हेतुक जाति के उदाहरण में पामर के घर में घुसते बैल का चित्र वे उद्घृत करते हैं (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य क्र. १७०) इस प्रकार भोज के काव्यशास्त्र विचार पर लोकधर्मी संस्कृत काव्य का प्रभाव स्पष्ट है।

रुद्रट के अनुकरण के साथ वाग्भट जाति के लक्षण में कहते हैं कि वस्तु का यथास्थित अग्राम्य (गँवारूपन से रहित) वर्णन जाति है। यह जाति डरे हुए बच्चे, दीन दुखी लोगों, पशु-पक्षियों तथा युवतियों के वर्णन में विशेष रमणीय हुआ करती है (यथास्थित - वस्तुस्वरूपवर्णनमग्राम्यं जातिः। सा च त्रस्तार्भकदीनतिर्यग्युवतिप्रभृतिषु विशेषतो रम्या।" (वाग्भटः काव्यानुशासन, अ.३, पृ. ३२)

दीन से आशय मानसिक रूप से खिन्न रहने से नहीं है। दीन का आशय इन आचार्यों का उन लोगों से ही है, वे अभिजात और सम्पन्न वर्ग के बाहर सीमित भौतिक साधनों में जीवन बिता रहे हैं। दीन के वर्णन की जाति का उदाहरण वाग्भट ने यह दिया है -

बर्हावलीबहलकान्तिरुचो विचित्र -
भूर्जत्वचा रचितचारुदुकूलनीलाः ।
गुञ्जाफलग्रथितहारलताः सहेलं
खेलन्ति खेलगतयोऽत्र वने शबर्यः ।। (वही)

(मोरपंखों की घनी कान्ति से जगमग करतीं, विचित्र भोजपत्र की खाल से बने सुन्दर सुन्दर नीले दुकूल ओढ़े, घुँघचियों के हार पहने हुए शबरियाँ इस वन में लीला के साथ क्रीड़ामय गति से खेल कर रही हैं।)

दीन के स्थान पर जाति या स्वभावोक्ति के लक्षण में आचार्यों ने हीन शब्द भी रखा है। वहाँ भी आशय हीन से घटिया होना नहीं है, साधनों की दृष्टि से विपन्न होने से ही आशय है। वाग्भटालङ्कार में वाग्भट नाम के ही दूसरे आचार्य ने जाति को स्वभावोक्ति कहा है, और रुद्रट तथा वाग्भट प्रथम की भांति इस बात को दोहराया है कि यह स्वभावोक्ति हीन लोगों, त्रस्त जनो तथा बच्चे के चित्रण में विशेष रमणीय होती है (वाग्भटालङ्कार, ४/४७)

केशव मिश्र ने अलंकारशेखर (पृ.३५) में स्वभाव अलंकार का निरूपण किया है, तथा जाति को इसका पर्याय कहा है।

इस तरह आचार्यों ने जाति, स्वभाव या स्वभावोक्ति के नाम से जिस अलंकार का निरूपण किया है, उसमें संसार में वस्तु या व्यक्ति का प्रकृत रूप चित्रित होना अपेक्षित है। केवल अग्निपुराण में इस अलंकार के लिये 'स्वरूप' नाम दिया है।

जाति या स्वभावोक्ति अलंकार की शेष अलंकारों से अलग पहचान बनती है। यही एक ऐसा अलंकार है, जिसमें कथनभंगी नहीं, वर्ण्य वस्तु लक्षित की गई है। अन्य किसी अलंकार में कविता का विषय क्या क्या होना चाहिये- इस तरह विचार नहीं होता। जाति या स्वभावोक्ति में वर्ण्य विषय क्या क्या हो सकते हैं यह भी विचार किया गया है और वर्ण्य का कैसा रूप चित्रित होना चाहिये यह विचार भी किया गया है। शेष अलंकार कथनभंगी के प्रकार मात्र हैं, जाति अलंकार रूप नहीं वस्तु पर केन्द्रित है। अपनी इस विशेषता के कारण जाति अलंकार कवियों को आकर्षित करता रहा है, और इसीलिये कविता के क्षेत्र में उसका अपना एक प्रस्थान बना। दण्डी ने जाति के विषय में कहा है -

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येऽप्येतदभीप्सितम् ।
(काव्यादर्श, २/१३)

शास्त्रों में इसी का साम्राज्य है तथा काव्य में भी यह ईप्सित है। भोज ने स्वभोक्ति, वक्रोक्ति तथा रसोक्ति - से तीन प्रकार काव्योक्ति के बताये हैं। इस तरह स्वभावोक्ति काव्य का एक प्रस्थान है (सरस्वतीकण्ठाभरण, ५/८)।

बाणभट्ट ने जाति को काव्य की महत्त्वपूर्ण कोटियों में परिगणित करते हुए कहा है -

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्ट: स्फुटो रस: ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ।।
(हर्षचरित, १/८)

उन्होंने सातवाहन द्वारा संकलित कोश के सुभाषितो को विशुद्ध जाति वाला बताया है (वही, १/१३)।

कादम्बरी में भी कथा को बाण ने सुजाति (अच्छे जाति अलंकार से युक्त) कहा है (कादम्बरी, प्रास्ताविक श्लोक, ९)।

जाति अलंकार अपने व्यापक क्षेत्र और अर्थवैशिष्ट्य के कारण उपमा आदि अन्यान्य अर्थालंकारों के समान कथनभंगी तथा कल्पना के ऊपरी चमत्कार तक सीमित नहीं रहा, और उसकी महत्ता के कारण जाति-काव्य की एक परम्परा संस्कृतकविता में चल पड़ी - ऐसा अनुमान होता है। विद्याकर ने अपने सुभाषितरत्नकोश की एक व्रज्या को इसीलिये जाति-व्रज्या कहा है, उसमें जातिकाव्य के सुभाषित संकलित हैं।

जाति अलंकार में काव्यात्मक उत्कर्ष और जीवन के नाना रूपों के प्रस्तुतीकरण की जितनी महती सम्भावनाएँ हैं, उतनी उसमें कवि के स्खलन और कविता के क्षरण की भी आशंका है। हर तरह का सतही चित्रण या अतिसरलीकृत निरूपण जाति अलंकार का उदाहरण नहीं हो सकता। इस तरह का चित्रण या निरूपण करके जो उसे जातिकाव्य बताते हैं, उन पर सुभाषितरत्नकोश की ही कविस्तुतिव्रज्या में कड़ी टिप्पणी इस श्लोक में की गई है-

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे ।
उत्पादका न बहव: कवया शरभा इव ।।

इस तरह का जातिकाव्य लिखने वाले कुत्ते के समान घर-घर मिलते हैं। उत्पादक या सर्जक कवि शरभ के समान दुर्लभ हैं।

उक्त विवेचान से ये निष्कर्ष निकलते हैं - (१) जातिकाव्य की एक परम्परा थी, जिसे संस्कृत की लोकधर्मी कविता की परम्परा भी कहा जा सकता है। (२) इस कविता का आस्वाद अभिजात कविता से भिन्न था। (३) इस कविता ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों के चिंतन, उनके द्वारा बनाई कोटियों के लक्षण या इन कोटियों के वर्गीकरण और व्यवस्थापन को प्रभावित किया।

राजशेखर काव्यमीमांसा में कहते हैं -

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वाद्वपि कौतुकात्।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम्।।
(काव्यमीमांसा अ.१०, पटना सं. १२६)

स्वादु या आस्वाद से भरा वचन (काव्य) सज्जनों (अभिजात वर्ग के काव्य पारखियों) के लिये लेह्य (चाटने योग्य) होता है, पर आस्वाद का लेश जिसमें है, ऐसा वचन भी बालकों, स्त्रियों और हीन जाति वालों के बीच कौतुक के कारण एक मुख से दूसरे मुख में संचरित होता रहता है।

कविता से अर्थप्राप्ति और राजसभा में सम्मान भी कुछ अच्छे कवि पा लेते थे। पर इन कवियों के मन में भी अभिलाषा तो यही रहती होगी कि उनकी कविता देश भर में जन-जन के मुख में वास करे। राजशेखर ने स्वयं तीन तीन राजाओं के दरबार में मान-सम्मान पाया था। उन्होंने स्वयं भी प्राकृत में सट्टक (कर्पूरमंजरी) लोकनाट्य की परम्परा से प्रेरित हो कर इसी दृष्टि से लिखा होगा। आचार्य के रूप में भी राजशेखर का यह सुनिश्चित मत है कि कविता को चुने हुए लोगों की समाशंसा मिले - इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें इतनी शक्ति होना चाहिये कि उसे घर-घर कहा सुना जाये -

आगोपालकमायोषिदास्तां काव्यस्य लेह्यता।
इत्थं कविः पठन् काव्यं वाग्देव्या अतिवल्लभः।।
(काव्यमीमांसा, पृ.३३ अ.७, पटना सं. पृ. ८१)

(कविता को ग्वाल-बालों और स्त्रियों तक लेह्य आस्वाद्य बन जाना चाहिये। इस दृष्टि से जो कवि अपनी कविता का पाठ करता है, वही वाग्देवी का प्रीतिपात्र बनता है।)

राजशेखर ने विस्तार से कवियों की कई कोटियों का विवेचन किया है। अपने समय के कवियों को दृष्टि में रख कर भी उन्होंने उनके वाग्वैभव पर कुछ पते की बातें कहीं हैं। कोई कवि ऐसे होते हैं, जिनकी कविता उन्हीं के घर में रखी रह जाती है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनकी रचना दो चार मित्रों तक पहुँचती है। कोई कोई कवि ऐसे भी होते हैं, जिनकी कविता कौतुकमयी हो कर विश्वभ्रमण की मानो इच्छा करती हुई पढ़े- बेपढ़े सभी के मुख में थिरकती फिरती है -

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य -
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्
कस्यापि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव।।
(वही, पटना सं. अ.४, पृ.३१)

स्पष्ट है कि इन अलग अलग तरह के कवियों के काव्य की विषयवस्तु तथा उन काव्यों की आस्वादभूमियाँ भी अलग अलग होगीं। इसीलिये राजशेखर ने (ऊपर उद्धृत

पद्य - वचः सवादु सतां लेह्यम् - में) अस्वाद भेद की बात कही है।

राजशेखर के कथन का आशय यही है कि एक कविता ऐसी भी उनके समय में प्रचलित है जो बच्चों, स्त्रियों और हीन जाति के लोगों के द्वारा भी गाई या सुनी जाती है और इस कविता में वह रस या आस्वाद नहीं है, जो इससे भिन्न धारा की कविता में है। जीवन का कौतुक इसमें है।

लोकजीवन, लोकभाषा तथा लोककाव्य से अन्तःसंवाद

राजशेखर का समय दसवी-ग्यारहवी शताब्दी है। योगेश्वर जैसे लोकजीवन के मर्मज्ञ कवि उनके समय में या उनके ठीक पहले रहे थे। राजशेखर योगेश्वर जैसे कवियों के कृतित्व से परिचित हैं। वे योगेश्वर और उनकी धारा के कवियों से पद्य भी उद्धृत करते हैं।

राजशेखर के ऊपर उद्धृत पद्य के उत्तरार्ध के दो अर्थ सम्भावित हैं। एक अर्थ तो यह है कि कम आस्वाद वाला काव्य भी कौतुक के कारण बच्चों, स्त्रियों और हीन जाति के लोगों के बीच एक मुख से दूसरे में प्रसारित होता रहता है। दूसरा अर्थ यह कि कम आस्वाद वाला और बच्चों, स्त्रियों और हीन जाति के लोगों के बारे में लिखा काव्य भी कौतुक के कारण एक मुख से दूसरे में प्रसारित होता रहता है।

यदि दूसरा अर्थ लिया जाये, तो स्पष्ट ही राजशेखर जाति काव्य या स्वभावोक्ति अलंकार वाले काव्य पर टिप्पणी कर रहे हैं। यह काव्य उनके समय लोकप्रिय हैं यह वे सूचित कर रहे हैं। यह भी स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति या जाति काव्य की परम्परा काव्यशास्त्र के आचार्यों के चिंतन पर अपना प्रभाव छोड़ रही है।

जातिकाव्य की परम्परा का परिपोष हाल की गाहासतसइ के द्वारा विशेष रूप से हुआ होगा। गाहासतसइ प्राकृत गाथाओं का संकलन है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य बार-बार गाहासतसइ से गाथाएँ तो उद्धृत करते ही हैं, संस्कृत काव्य के इस तरह के प्राकृत काव्यों से संवाद पर भी वे विचार करते हैं। राजशेखर ने ही अर्थग्रहण के प्रकारों में नटनेपथ्य नामका एक प्रकार बताया है, जिसके उदाहरण में हाल की गाहासतसइ की एक गाथा (गाहासतसइ में क्र.३१५) तथा उससे प्रभावित संस्कृत पद्य प्रस्तुत किया है हाल की गाथा इस प्रकार है -

नेच्छइ पासासंकी काओ दिण्णंपि पहिअघरणीए।
ओहत्तकरयलोग्गग लिअवलयमज्झठ्ठिअं पिंडम्।।

विरहिणी कौए को कौर देना चाह रही है। कौर धरती पर रखते समय हाथ जो नीचे किया, तो दुबली कलाई से कंगन नीचे गिर पड़ा। अब कौर को घेर कर पड़े हुए

कंगन को पाश समझ कर कौआ पथिक की घरवाली के बार-बार बुलाने पर भी कौर खाने नहीं आ रहा है।

इस प्राकृत गाथा को संस्कृत कवि ने इस रूप में प्रस्तुत किया है -

दत्तं पिण्डं नयनसलिलक्षालनाधौतगण्डं
द्वारोपान्ते कथमपि तया सङ्गामाशानुबन्धात्।
वक्रग्रीवश्चलनतशिराः पार्श्वसञ्चारिचक्षुः
पाशाशङ्की गलितवलयं नैनमश्नाति काकः।।

(काव्यमीमांसा, अ.१२, पटना सं.पृ.१६३)

(आँसुओं से धुलते कपोल वाली पथिक की घरवाली ने प्रिय के समागम की आशा से घर के द्वार पर किसी तरह पिंड रखा, तो उस पर आ टपके कंगन को पाश समझ कर गरदन टेढ़ी किये हुए सिर नीचे झुकाये हुए आस-पास आँखें नचाता हुआ भी कौआ उसे खा नहीं रहा है।)

यह आवश्यक नहीं कि संस्कृतकवि ने कौवे के द्वारा विरहिणी के दिये पिंड को न खाने के भाव को प्राकृत गाथा से ही उठाया हो। इस तरह के भावों को लेकर लोकसाहित्य या लोकगीतों में उस समय रचनाएँ और भी रही होंगी। गाँव देहात में प्राकृत या जनभाषा में मौखिक परम्परा में कही सुनी जाती ऐसी रचनाओं को लोकपरम्पराओं से जुड़े संस्कृत कवियों ने अपनी रचनाओं की प्रेरणा बनाया होगा। यह तो स्पष्ट है कि संस्कृत कवि ने प्राकृत की गाथा का अनुवाद नहीं किया। विरहिणी को अन्न के पिंड को दरवाजे के पास रखने का उल्लेख तथा कौवे की चेष्टाओं का वर्णन उसके अपने पर्यविक्षण या स्वयं अनुभव से प्रसूत है।

इस प्रकार अर्थहरण के विभिन्न प्रकारों के विवेचन में राजशेखर संस्कृत कविता में लोकसाहित्य से ली गई अर्थविच्छित्ति का संकेत करते हैं।

भोज ने शब्दालंकारों में एक छाया अलंकार बताया है। अन्य की उक्ति का अनुकरण छाया है। इस छाया अलंकार के छह भेद भोज ने बताये हैं, जिसमें सबसे पहला भेद लोकच्छाया है। लोक में प्रचलित उक्तियों की छाया किसी रचना में ली जाए, तो यह अलंकार होता है। इसके उदाहरण में भोज ने मेघदूत में यक्ष की यह उक्ति उद्धृत की है -

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शाङ्र्गपाणौ
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।

यक्ष कहता है कि जब शार्ंगपाणि विष्णु शय्या से उठेंगे, तो मेरे शाप का अन्त हो जाएगा, अतः शापावधि के बचे हुए चार महीने तुम आँख मूँद कर बिता दो। यहाँ आँख मूँद कर (संकट का कोई समय) बिता दिया जाय- यह लोकप्रचलित मुहावरा है।

कालिदास ने यक्षिणी के लिये यक्ष के सन्देश में इसकी छाया ले ली है।

देशज भाषाओं का काव्य या लोकगीतों के मुहावरे, अभिव्यक्तियों तथा पदावली संस्कृत कविता में संक्रान्त होते रहे हैं। आचार्यों ने इस संक्रान्ति पर विचार किया है। लोक भाषा या लोक साहित्य से शब्दार्थ आदि का ग्रहण गुण भी बन सकता है, दोष भी। इस दृष्टि से रुद्रट तथा भोज इन दोनों आचार्यों ने देश्य दोष पर विचार किया है देशज भाषा के शब्दों का अनावश्यक ग्रहण देश्य दोष है। रुद्रट के अनुसार लडह, मडह आदि शब्दों के प्रयोग से यह दोष आता है (रुद्रट : काव्यालंकार, ६/२७) भोज का भी यही कहना है। इन आचार्यों ने देश्य के साथ ग्राम्य दोष पर भी विचार किया है ग्राम्य दोष अभिव्यक्ति या अर्थ में ग्राम्यता आ जाने से होता है। पर भोज जैसे आचार्यों ने कविता के उस वैशिष्ट्य पर भी विचार किया है, जहाँ ये दोनो दोष, दोष न रह कर गुण हो जाते हैं। अर्थात् कविप्रतिभा यदि जागरूक है तो लोकसाहित्य, लोकभाषा या लोकगीति से पदावलियों, मुहावरों या अर्थाभिव्यक्तियों का आदान काव्य में गुण बनता है। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में इसके लिये भवभूति के काव्य से उदाहरण भी दिये है।

काव्य में किसी पात्र के संवादों का निरूपण जिस वर्ग से वह पात्र आया है, उसी वर्ग की भाषा में होना चाहिये। इसके भोज ने ग्रामीण और नागरक के संवाद का निरूपण करने वाला पद्य उद्घृत किया है, जिसमें गांव से नगर में आया हुआ व्यक्ति अपनी बोली में बात करता है, और नगर का व्यक्ति अपनी भाषा में उसका उत्तर देता है।

इसके साथ ही इन आचार्यों ने कविता में किन विषयों को किस तरह उठाया जाय- इस पर विस्तृत विचार किया है। भोज जैसे आचार्यों की इस तरह के विवेचन में लोकदृष्टि स्पष्ट है। वे विभिन्न सामाजिक स्थितियों - विशेषतः लोकाचारों या लोक में प्रचलित उत्सवों का वर्णन करने का विधान करते हैं और ऐसे लोकाचारों या लोकोत्सवों की सूची स्वयं भी निर्देशार्थ प्रस्तुत करते हैं। इस तरह के उत्सव हैं - अष्टमीचन्द्र, कुन्दचतुर्थी, सुवसन्तक, आन्दोलनचतुर्थी, एकशाली, मदनोत्सव, उदकक्ष्वेडिका, अशोकोत्तंसिका, पुष्पावचायिका, भूमातृका, कदम्बयुद्ध, नवपत्रिका आदि। विवाह के अवसर पर स्त्रियों के हास परिहास, विसखादिका, शक्रार्चा, कौमुदी, यक्षरात्रि, अभ्यूषखादिका आदि उत्सवों या क्रीड़ाओं के उदाहरण, प्राकृत के पद्यों से देते हुए भोज ने अपने समय की कविता का लोकधर्मी तथा ग्राम जीवन से जुड़ा हुआ परिवेश उजागर किया है।

इस तरह के उत्सव या क्रीड़ाएँ नागर जीवन के प्रस्तुतीकरण में भी वर्ण्य हैं, पर ग्रामजीवन के चित्रण में उससे जुड़े उत्सवों या क्रीड़ाओं का भी उल्लेख पृथक् से भोज ने किया है। इसी तरह नायिका भेद के विवेचन में भोज ने नायिकाओं की संख्या में वृद्धि करते हुए गाँवों के जीवन से या निम्नमध्य वर्ग से नायिकाओं को उठाया है।

कविशिक्षा और लोकधर्मी काव्य परम्परा

कविशिक्षा एक अन्य कोटि है, जिसके अंतर्गत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने कवियों को कविता के वर्ण्य विषयों के सम्बन्ध में निर्देश दिये हैं। ये निर्देश वास्तव में पहले के श्रेष्ठ काव्यों या अपने समय के प्रशंसित काव्यों की विशेषताओं का परीक्षण कर के दिये गये हैं। रुद्रट, मम्मभट, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने कविशिक्षा का स्वतंत्र प्रकरण अपने ग्रन्थों में नहीं रखा है, पर औचित्यविचार या रसदोषविचार के अंतर्गत इसका समावेश किया है। हेमचन्द्र ने रसदोषों के निरूपण में कविसमय का विवेचन किया है। इन कवियों के निर्धारण में लोकधर्मी संस्कृत काव्य का भी प्रभाव पड़ा है। कविसमय के अंतर्गत कौन सी-ऋतु में किस तरह की फसलों, पुष्पों या फलों आदि का वर्णन किया जाय, यह बताते हुए हेमचन्द्र काव्यानुशासनविवेक में यह पद्य उद्घृत करते हैं -

केदार एव कलमाः परिणामनम्राः
प्राचीनमामलकमर्धति पाकनीलम्।
उर्वारुकं स्फुटविनिर्गतगर्भगन्ध-
'मम्लीभवन्ति च जरत्रपुसी फलानि।'

(काव्यानुशासन, भाग-१, पृ.१८९)

यह शरद ऋतु के वर्ण्य विषयों का निर्देश है, जिसमें पकते हुए धान, नीले पड़ते आँवले, गंध छोड़ते खरबूज और ककड़ी के पकने का उल्लेख है। इसी के आगे गेहाजिरेषु नवशालि- (इस पुस्तक में संख्या-९५) पद्य भी उद्घृत किया है। यही पद्य राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में उद्घृत किया है। स्पष्ट ही, ये आचार्य इस पद्य में घर-घर में लगे नये धान के ढेर और धान कूटती किसानों की बहुओं की सरस छबि से प्रभावित हैं।

हेमन्त के वर्णन का नमूना प्रस्तुत करते हुए हेमचन्द्र ने यह पद्य भी उद्घृत किया है-

सशमीधान्यपाकानि क्षेत्राण्यत्र हरन्ति च।
त्रिशङ्कुतिलका रात्र्यः पच्यन्ते लवणानि च। (वही, पृ.१९१)

इसके आगे बेर और नारंगी के पकने का उद्रेक और गन्नों की अपूर्व माधुर्यश्री का वर्णन करने वाला श्लोक उद्घृत है।

शिशिर के दृश्यालेख के निरूपण में हेमचन्द्र ने यह पद्य उद्घृत किया है -

अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपा -

१- भोज ने शृप्र. में उद्दीपन विभावों के विवेचन में यह पद्य उद्घृत किया है। 'अम्लीभवन्ति' के स्थान पर उन्होंने 'अल्पीभवन्ति' पाठ ग्रहण किया है (शृप्र. खंड ३, प्र.१६, पृ.६५४)

दसरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।
गलितविभवस्याशेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवे -
र्विरहिवनितावक्त्रौपम्यं बिभर्ति निशाकरः।। (वही, पृ. १९२)

(नई बहुरिया की रिस सरीखी
स्वाद देती है कौड़े के पलके की आग
तुषार की हवा है पर
टेढ़े आदमी की भिड़ंत जैसी क्रूर।
गरीब हो चुके स्वामी की आशा जैसी
आब खो चुकी है धूप
बिरहिन के मुख की उपमा
बन गया है चाँद।)

औचित्यविचारचर्चा में क्षेमेन्द्र ने भी यह पद्य मालवरुद्र कृत बताते हुए उद्धृत किया है। सुभाषितहारावली में यह पद्य भास के नाम से उद्धृत है, ऐसा काव्यानुशासन के सम्पादक ने सूचित किया है, पर डॉ. जगन्नाथ पाठक द्वारा सम्पादित सुभाषित-हारावली के संस्करण में यह पद्य प्राप्त नहीं होता।

ऋतुचक्र का आवर्तन विवर्तन कवियों को भारतीय जनजीवन के बदलते रंगों को उकेरने का अवसर देता है। इसलिये संस्कृत कवियों की दृष्टि ऋतुवर्णन पर बनी रही, और आचार्यों ने भी ऋतुओं के राग-रंग और उनसे साथ होने वाले सुख-दुख के अनुभवों को काव्य में चित्रित करने का निर्देश कवियों को दिया है। इसी प्रसंग में हेमचन्द्र ग्रीष्म के दृश्यालेख के अनेक पद्य प्रस्तुत करते हैं। इनमें सूखते तालाबों, प्याउओं पर जुटती भीड़ और रास्ते पर सत्तू खाते पथिकों का चित्रण है (काव्यानुशासनविवेक ३/३०६, भाग-१, पृ.१९४)। इसी क्रम में उद्धृत है -

पच्यन्त इव भूतानि ताप्यन्त इव पांसवः।
क्वथ्यन्त इव तोयानि ध्मायन्त इव चाद्रयः।। (वही, पृ. १९५)

(पकाये जा रहे है जीवजन्तु
तपाई जा रही है धूल
उबाला जा रहा है जल
फूँके जा रहे हैं पहाड़।)

इस तरह के अनुभव देश-देश की खाक छानने वाले कवियों के हो सकते हैं। आचार्यों का आशय यही है कि ऋतुचित्रण में जीवन और जगत् का समग्र निरूपण हो। इसमें सामन्तीय जीवन का वैभव और विलास तथा उनका रहनसहन भी चित्रित हो सकता है, और निर्धनों, गाँव के किसानों आदि का संघर्ष भी। आचार्यों के इन निर्देशों

में लोकधर्मी संस्कृत कविता की स्वीकृति और उसका प्रभाव है। वे स्वीकार करते हैं कि कवि काव्यों में प्रसंगत: या स्वतंत्र रूप से ऋतुओं का वर्णन करें, तो उस वर्णन में पामरियाँ (मजदूरों की स्त्रियाँ) भी आ सकती हैं, कानों में आम की मंजरियाँ खोसे या मिट्टी के सकोरो में रस पीते युवक भी आ सकते हैं-

गेहे वाहीकयूनां वहति दमनको मञ्जरीकर्णपूरा -
नुन्माद: पामरीणां मरुति मरुबकामोदिनि व्यक्तिमेति।
सद्यो गन्धानुसारस्रुतसुरभिशिरा: शीकर: साहकार:
सर्पन्नम्भ:शरावै रचयति च रसो रेचकीचक्रकाणि।। (वही, पृ.१९९)

वाग्भट ने अपने काव्यानुशासन में कालाद्यौचित्य के विचार के अंतर्गत काव्य में देश-काल के यथायथ चित्रण पर बल दिया है। देशकालानुरूप वर्णनीय विषयों की विस्तृत सूची भी उन्होंने इस संदर्भ में प्रस्तुत की है, जिस में जनजीवन की संस्कृत कविता का प्रभाव स्पष्ट है। उसी के संदर्भ में वे कवियों को निर्देश देते हैं -

कृषीवलकुटुम्बिनीनिकुरम्बकरासडम्बरो दूर्वाष्टमी पर्वोत्सवश्च वर्णनीय:।
(काव्यानुशासन,अ.५, पृ.६५)

(शरद ऋतु में) किसानों की घरवालियों के समूह का रास तथा दूर्वाष्टमी के पर्व का उत्सव चित्रित करना चाहिये।

इसी स्थल पर वाग्भट खेत की क्यारियों में पकते धान, गोपियों के गीत, धान के पकने की गंध, ककड़ियों की महक, पके त्रपुसी फल के सौन्दर्य तथा किसानों के घर के आँगन में खनकते कंगनों वाली भुजलताओं से मूसल उठा उठा कर कृषकवधुओं के धान कूटने का वर्णन करने का निर्देश देते हैं -

केदारेषु शालिपाको गोपीगीतयश्च। परिपाकापन्नोर्वारुकगन्धोद्गम:।
जरत्त्रपुसीफलसौन्दर्य कृषीवलगेहाजिरेषु चलद्वलयावली -
वाचालभुजलतोल्लासितमुशलोच्चिलतकलमशालिकणागन्धबन्धुरत्वं नदीपूर-
प्राचुर्योपगमश्च वर्णनीय:।। (वाग्भट: काव्यानुशासन, पृ. ६५)

स्पष्ट ही यहाँ वाग्भट जनजीवन के कवि योगेश्वर आदि की कविता का अनुवाद कर रहे हैं (देखें - इस पुस्तक में पद्य संख्या ९४,९५, १४९)। शिशिर में कंडों की आग तापने का दृश्य या इस तरह के अन्य वर्णनों के निर्देश में उन्होंने पदावली भी जनजीवन की संस्कृत कविता से उठाई है। यह एक आचार्य के द्वारा इस कविता की सामर्थ्य और प्रभविष्णता की स्वीकृति है।

काव्य का सच्चा रस जीवन के सहज नैसर्गिक रूप की पहचान में है। यह पहचान लोकजीवन से सम्पृक्त कवियों की कविता देती है। आचार्य इस कविता को सामने रख कर रसास्वाद के वैशिष्ट्य की दृष्टि से भी उसे परखते हुए प्रतीत होते हैं।

विशेष रूप से भोज की दृष्टि उद्दीपन विभावो के निरूपण में ग्राम, खेत-खेलिहान, सिवान, वनग्राम आदि के परिवेश पर गई है। इसके अंतर्गत वे उन पद्यों को उद्घृत करते हैं, जिनमें धान के लहलहाते खेतों और कंडों की आग तापते लोगों का वर्णन है (शृंगारप्रकाश, प्र.-१६, पृ.६६०) भोज द्वारा यहाँ उद्धृत पद्य इस पुस्तक में (संख्या -१५१) संकलित है। कवियों ने गाँव में उगने वाली वनस्पतियों और वहाँ के वातावरण को खूब परखा था, यह भोज के द्वारा उद्घृत ऐसे पद्यों से स्पष्ट है -

इह हि सजलकुल्यालीलविल्लीविफुल्ल-
स्तवकशबलितोरुस्तम्बकुस्तुम्बुराणि।
उपवननरवीनरुद्वास्तुकश्यामलानि
क्लममुपरमयन्ति ग्रामकच्छस्थलानि।।

(शृंगारप्रकाश, प्र.१६, भाग-३, पृ.६६०)

भोज ने इस दृष्टि से उद्दीपन विभावो की कई कोटियाँ बना कर विचार किया है। पर्वतरमणीयता के उद्दीपन की चर्चा में उन्होंने विन्ध्य के लताकुंजों में शबर-रमणियों के विलास के चित्रण को उद्घृत किया है-[१], तो नदी के उद्दीपन के वैशिष्ट्य में पामरियो (मजदूर-स्त्रियाँ) के द्वारा विलुलित जल का दृश्य उपस्थित करते हैं।[२] ऋतुओं के उद्दीपन की चर्चा में ग्रीष्म में तपते गिरिग्राम का दृश्य प्रस्तुत करते हैं[३] या वनगिरि का दृश्यालेख उपस्थित करते हैं।[४] धान कूटती गाँव की स्त्रियों के वर्णन ने भोज को प्रभावित किया है (योगेश्वर का पद्य, प्रस्तुत पुस्तक में संख्या-१४९)। गाँव का उजाड़ दृश्य,[५] शीत में ठिठुरते पथिकों का निरूपण,[६] वर्षा में जर्जर दरिद्र का घर,[७] - उद्दीपन के प्रसंग में भोज की इन सब पर भी दृष्टि पड़ी है। खेतों में लहलहाती फसलों के वर्णनों को तो वे विशेष रूप से काव्य के लिये चित्ताकर्षक मानते हैं, और तत्सम्बन्धी काव्यों को उद्घृत करते हैं।[८]

१- इमास्ता विन्ध्याद्रेः शुक्रहरितवंशीघनघनाः भुवः क्रीडालोलद्विरदवदना रुग्णतरवः।
लताकुञ्जे यासामुपनदि रतवलान्तशबरीकपोलस्वेदाम्भः परिचयनुदो वान्ति मरुतः।।
(शृंगारप्रकाश, प्र.१६, भाग-३, पृ.६६१)

२- इह बहुलविसर्पन्नालवालाङ्कवल्लीवलयहरिततीरक्षेत्रलेखा वहन्ति।
दिनपरिणतिमज्जत्पामरीपीनतुङ्गस्तनतरलितबुद्धास्तत्र तोयारम्भ (?) नित्यम्।। (वही, पृ.६६१)

३- वही, पृ.६६४ (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य सं.-१९५)

४- वही, पृ.६६४ (प्रस्तुत पुस्तक में पद्द सं.-१६२,शृंप्र.में मध्ये पङ्किनि पाठ है)

५- वही, भाग-२, पृ.५९५ (प्रस्तुत पुस्तक में सं.१९४)

६- वही। (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य सं.२२८)

७- वही, भाग-३, पृ. ६५३ (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य सं.२०५)

८- वही, पृ.६५३ (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य सं.१६३), पृ.३९२ प्रस्तुत पुस्तक में योगेश्वर का पद्य सं.१७१), पृ.६५५ (इस पुस्तक में पद्य सं.१६५), पृ. ६५४ (ऊपर उद्घृत - केदार एवं कलमः०-), पृ.६५५ (इस पुस्तक में पद्य सं. १४८), ६५६ (इस पुस्तक में पद्य सं. ८८)

कवियों तथा आचार्यों-परम्परा का अन्त:संवाद

निष्कर्षत: छठी शताब्दी से बारहवी शताब्दी के बीच हुए संस्कृत काव्यशास्त्र के कतिपय मूर्धन्य आचार्यों- दण्डी, वामन, रुद्रट, भोज और राजशेखर में लोकजीवन की संस्कृत और प्राकृत कविता की स्वीकृति ही नहीं, उसके आधार पर काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के पुनर्व्यवस्थापन या कोटियो की पुनर्व्याख्या का उपक्रम भी है। वामन की माधुर्य गुण की अवधारणा ध्वनिवादियों से भिन्न है। वे माधुर्यगुण के प्रत्युदाहरण में गोशृंग (गाय के सींग से बना बाजा) की गूंज से वनैले सूअरों को चकित बनाने वाली चंचल शबर सेना से रौंदे जाते विन्ध्य के क्षेत्र का यह चित्र उद्घृत करते हैं-

चलित शबरसेनादत्तगोशृङ्गचण्ड-
ध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादा: ।।

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३/१/२१)

वामन यह भी स्वीकार करते हैं कि लोकजीवन में रचे बसे कवि की रचना में अर्थदृष्टि नई होती है, और रचना का अप्रस्तुतविधान भी भिन्न होता हैं इसीलिये उपमान की नवीनता का विवेचन करते हुए दरिद्र के घर में छत से टपकती वर्षा की बूँदों का वह वर्णन उद्घृत करते हैं, जिसमें धूल में मटमैली हुई बूँद को शहद की बूँद जैसी पिंगल कहा गया है (इस पुस्तक में पद्य संख्या-१०७)

आचार्य भरत ने नाट्य को त्रिलोकी का भावानुकीर्तन कहा था। काव्य या कला में तीनों लोक उपस्थित होते हैं। एक इतिहास का या अतीत का लोक हो सकता है, एक मिथक या पुराणों का। पर व्यवहार जगत् या ऐतिहासिक वर्तमान तो कविता या कला में रहना ही चाहिये। इस व्यवहार जगत् या इह लोक में गरीबी, भुखमरी, व्याधियाँ दुर्भिक्ष आदि भी हैं, और सम्पन्नता तथा सुख भी हैं। जब कवि इस इह लोक या भारतवर्ष का चित्रण करे, तो इनको सबको कविता का विषय बनाये, यह निर्देश देते हुए रुद्रट कहते हैं -

दारिद्रचव्याधिजराशीतोष्ण्याद्युद्भवानि दु:खानि।
बीभत्सं च विदध्यान्नान्यत्र भारताद् वर्षात्।।

(काव्यालङ्कार, रुद्रटकृत, १६/४०)

स्पष्ट ही, रुद्रट उस काव्यपरम्परा से परिचित हैं, जो देश के लोगों की गरीबी और भुखमरी को कविता का विषय बनाती है, और अपनी प्रभविष्णुण्ता के कारण सहृदय समाज को आकृष्ट करती आ रही थी।

जाति या स्वभावोक्ति अलंकार की परिकल्पना के पीछे इसी काव्यपरम्परा का हाथ रहा है, क्यो कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में जो चार अलंकार बताये हैं, उनमें

जाति का उल्लेख नहीं हैं, वहाँ अलंकार निरूपण उपमा से आरम्भ होता है। मम्मट आदि आचार्य भी अर्थालंकारों का विवेचन उपमा से ही आरम्भ करते हैं। दण्डी की स्थिति इनसे भिन्न है। वे जाति को आद्या अलंकृति कह कर उपमा से पहले उसका निरूपण करते हैं, तथा जाति या स्वभावोक्ति के चार प्रकार बताते हैं - जो जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य- इन चार कोटियों से बनते हैं। अर्थात् जाति अलंकार किसी व्यक्ति या किसी समाज का अपना स्वरूप और वैशिष्ट्य, उसके गुण और उसकी क्रियाओं को भी रूपायित करता है। यद्यपि ये चार कोटियों पतंजलि के व्याकरण में अर्थविचार से उठाई गई हैं, पर वे जाति अलंकार की व्यापकता या लोकाभिमुखता को स्पष्ट करती है।

दण्डी ने अलंकार की दो कोटियाँ भी बताई - एक अलंकार वह है, जो काव्यमार्ग की पहचान स्थापित करता है, दूसरा साधारण अलंकार है (काव्यादर्श, २/३)। इस विविध अलंकार की अवधारणा इस विचार पर आधारित है कि जिसे स्थूल अर्थ में अलंकार कहा जाता है, वह कविता के लिये अनिवार्य नहीं हैं इस तरह के अलंकार के बिना भी कविता व्यापक अर्थ में अलंकार के रूप को अंगीकृत करके अनलंकृत होते हुए भी सालंकृत हो सकती है। जाति या स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का खण्डन भी भामह या कुन्तक आदि जब करते हैं, तो इसी दृष्टि से कि वह काव्य के लिये एक व्यापक और आंतरिक तत्त्व है, उस अर्थ में कथनभंगी का प्रकार मात्र नहीं है, जिस अर्थ में अनेक अर्थालंकार हैं। इस तरह अनलंकृत हो कर भी कविता जंहाँ अपना उत्कर्ष प्रमाणित करे - उस भूमि का उद्घात लोकधर्मी काव्यपरम्परा के द्वारा ही किया जा सकता था।

कुल मिलाकर छठी शताब्दी के बाद जो काव्यशास्त्र के आचार्य सिद्धांतों का विवेचन कर रहे थे, उनके सामने संस्कृत कविता की वह परम्परा भी थी, जो जनजीवन से जुड़े कवियों ने विकसित की। काव्यशास्त्र की अनेक कोटियों के उदाहरण में वे संस्कृत और प्राकृत की इस तरह की कविता को उद्धृत करते हैं। वाग्भट उपमा के दोषों के विवेचन में लिंगवचनवैषम्य के उदाहरण में यह पद्य उद्घृत करते हैं -

परमातेव निःस्नेहाः परकार्याणीव शीतलाः ।
सक्तवो भक्षिता राजन् शुद्धाः कुलवधूरिव ।।

(काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ.३४)

(सौतेली माँ की तरह स्नेहरहित
वैरी के कार्यों जैसा ठंडा
कुलवधू जैसा खालिस
हे राजन्, सत्तू खाया है हमने ।)

वामन ने माधुर्य के प्रत्युदाहरण में उद्घृत किया है-

चलितशबरसेनादत्तगोशृङ्गचण्ड-
ध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः ।।
(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति,३/१/२१)

विन्ध्याचल की ढलानों पर गाय के सींग से बने बाजे को फूंक कर बजाते शबरों की बीहड़ सेना का यह उल्लेख माधुर्य की प्रचलित धारणा को तोड़ कर कविता में ओजस् की नई अवधारणा खड़ी करता है। इस तरह की अवधारणा रूढ और जड सौन्दर्यबोध को भी तोड़ती है। अभिजात कवि कमल, पाटल, पलाश आदि फूलों का वर्णन तो कर सकते हैं, फलों में द्राक्षा या सहकार उन्हें अपनी सरसता से लुभा सकते हैं, पर बेर के पेड़ पर फूटना, उसका रंग, फिर पीला पड़ना, फिर कुछ ललछौंही आभा उस पर चढ़ना और अंत में गन्धहीन, रसहीन हो कर झर जाना- यह सब तो दूसरी परम्परा का कवि ही चित्रित कर सकता था -

पुरः पाण्डुच्छायं तदनु कपिलिम्ना कृतपदं
ततः पाकोत्सेकादरुणगुणसंसर्गितवपुः ।
शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति ।। (वही, ३२/२)

वन में गन्धहीन, रसहीन सूख कर झरे बेर के फल पर यह उक्ति 'अरसत्व' का वर्णन करती है। इस उक्ति में भी उस तरह का रस नहीं है। कवि यहाँ रस की अवधारणा को ही काट रहा है - ऐसा लगता है। रस की अवधारणा को काट कर एक भिन्न आस्वादबोध वह देना चाहता है।

लोकजीवन से जुड़े कवियों की कविता का आस्वाद सामन्तीय समाज की विलासिता में रचे बसे कवियों की कविता के आस्वाद से भिन्न है। काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा भी आस्वाद के इस विभेद को स्वीकार करती है। दशरूपककार धनंजय तथा धनिक रसास्वाद की विस्तार, विक्षोभ आदि कोटियाँ स्वीकार करते हैं।

आस्वाद के पार्थक्य की दृष्टि से रसविवेचन में दो प्रस्थान बन जाते है। - एक अष्टरसवादी है, दूसरा नवरसवादी। नाट्य में ही नहीं काव्य के क्षेत्र में भी शांत रस का अस्तित्व आचार्यों के बीच लम्बे समय तक विवाद का विषय बना रहा। यदि शांत को भी एक रस मान लेते हैं, तो आस्वाद की अवधारणा पलट जाती है। शांत रस का स्थायी भाव निर्वेद या तत्त्वज्ञान है। निर्वेद या वैराग्य और विषयों में आसक्ति एक साथ कैसे रह सकते हैं। एक कविता ऐसी हो सकती है, जिससे मिलने वाले आनंद में ऐन्द्रिय विषयों की ससंक्ति का सुख मिश्रित है। दूसरी कविता ऐसी हो सकती है, जिसमें संसार से मोहभंग है, उस मोहभंग और निर्वेद के भाव में अवस्थित रह कर कवि खरी खरी बात कह सकता है। इसलिये शांत रस की कविता प्रकारान्तर से चुनौती की कविता भी

बन जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में अनुभव और दृष्टि-इन दो अंतिम शीर्षकों के अंतर्गत अनेक पद्य ऐसे हैं, जिनमें शांत रस की प्रधानता है, और ये पद्य सीधे-सीधे सामन्तीय व्यवस्था या सत्ता को चुनौती भी देते हैं।

नाट्य और काव्य दोनों में भरत के पश्चात् कुछ शताब्दियों तक शांत रस की स्वीकार्यता के विषय में प्रश्न-चिन्ह लगाया जाता रहा। आनंदवर्धन ने इस विवाद का समाधान यह कह कर करना चाहा कि शांत रस भले ही सर्वजनानुभवगोचर न हो, पर वह यदि कुछ अलोकसामान्य महानुभावों का चित्तवृत्तिविशेष बन सकता है, तो उसे मान लेना चाहिये (ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ.४३३) अभिनवगुप्त ने शांत रस के सम्बन्ध में इस तरह का कोई विकल्प अनावश्यक मानते हुए उल्टे शांत रस को संरम्भ के साथ स्थापित किया, उसे महारस का दर्जा भी दे दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शांत रस की स्वीकृति या अस्वीकृति के पीछे वे लक्ष्य ग्रन्थ या काव्य ही कारण हैं, जो इन आचार्यों की दृष्टि में रहे होंगे। एक कविता संसार के विषयों में, विलासिता के आनंद में, रिझाने और मनाने में संसक्त हैं, दूसरी कविता इस विलासिता के घेरे को तोड़ कर बड़े विश्व से जुड़ना चाह रही है। एक में शृंगार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठा मिली, तो दूसरे में शांत को। शांत की प्रधानता का आशय यह नहीं कि इस कविता में द्वन्द्व या तनाव नहीं है, द्वन्द्व या तनावों की उपस्थिति तो उसमें और अधिक हो सकती है, पर इनसे गुजर कर वह इनका अपनी परिणति में साक्ष्य देती है। यह साक्ष्य या साक्षीभाव ही निर्वेद है, जो शांत रस का स्थायी भाव है। अभिनवगुप्त ने शांत रस के विवेचन में शांत का जो उदाहरण दिया है, उससे इस बात को समझा जा सकता है (अभिनवभारती, भाग-१, पृ.३३४ तथा प्रस्तुत पुस्तक में पद्य सं. ३२१)।

लोकधर्मी काव्यपरम्परा का उद्‌भव - वेद

परम्परा में वेद की व्याख्या के तीन स्तर माने गये हैं- आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। आधिभौतिक स्तर पर वैदिक सूक्तों की प्रकृति लोकगीतों या लोककाव्य के बहुत निकट है। लोकसाहित्य का बिम्बविधान यहाँ मौजूद है। सोमसूक्तों में उलूखल या सोम पीसने का पत्थर या इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ यौन प्रतीकों के रूप में यहाँ व्यवहृत हैं, जिस प्रकार लोकगीतों में सिल-बट्टा आदि का उल्लेख यौन-प्रतीक के रूप में होता है। इस दृष्टि से ऋग्वेद का सूक्त ९/११२ (इस पुस्तक में शीर्षक सं.-५) पठनीय है। इस सूक्त की लय लोकगीत के समान है। इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव, यह पंक्ति इस सूक्त के हर मंत्र में ध्रुवक (स्थायी) की तरह दोहराई गई है। डॉ. रामजी उपाध्याय जैसे विद्वानों का अनुमान है कि यह सोम पीसने वाले

मजदूरों का गीत है (संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास खंड-१, रामजी उपाध्याय, पृ. १७)। इसी तरह सीता (हल की फाल) को सम्बोधित या कृषि की अधिष्ठात्री देवी के लिये अर्पित ऋग्वेद का एक और सूक्त (४/५७) किसानों के द्वारा गाया जाने वाला सूक्त प्रतीत होता है। (इस पुस्तक का शीर्षक सं.-३) बार्हस्पत्य भारद्वाज के इन्द्रविषयक सूक्तों में इन्द्र का एक अर्थ वृषभ या गायों का अधिष्ठाता भी है। इन्द्र का सीधा सम्बन्ध यहाँ खेती से है। खेती के लिये वेद में कृष्टि शब्द का प्रयोग है, जो कृष धातु से बना है, इसी से कृषक शब्द बनता है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में कृष या कृषि से ही कल्तूर (फ्रैंच) या कल्चर (अंग्रेजी) शब्द आये हैं। कृष्टि वैदिक वाङ्मय में आधिभौतिक स्तर पर खेती-किसानी का आशय सूचित होता है, तो आधिदैविक या आध्यात्मिक स्तरों पर यह समग्र सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का द्योतक है। वहाँ खेत की धरती और किसानी ही जीवन का आधार हो, वहाँ कृष्टि का समग्र संस्कृति का पर्याय बन जाना स्वाभाविक था।

सुहोत्र भारद्वाज इन्द्र से कृष्टि का संवर्धन करने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं -

अभूरेको रयिपते रयीणामा हस्तयोरधिथा इन्द्र कृष्टः।
वि लोके अप्सु तनये च सूरेऽवोचन्त चर्षणयो विवाचः।।
(ऋग्वेद- ४/३१/१)

वैदिक देवमंडल में इन्द्र सर्वाधिक महिमामय देव माना जाता है। इस इन्द्र को वैदिक कवियों ने वृषभ की संज्ञा बार-बार दी है, तथा उसकी माता को गाय कहा है-

कृष्टिः ससूव स्थिविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुभ्रमिन्द्रम्।
अरी हं वत्सं चरताथ माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम्।।
(ऋग्वेद- ४/१८/१०)

वृषायमाणो अवृणीत सोमम्-
(ऋग्वेद- १/३२/३ अथर्ववेद- २/५/७, तैति. ब्रा. २/५/४/२)

(माता रूपी युवती गाय ने इस इन्द्र रूपी वृषभ को जना है, जो बलवान्, युद्ध में अविजेय तथा प्रतिरोध में भयंकर है। इस माता ने स्वयं अपना मार्ग चुनने को तत्पर इस बछड़े को चाट चाट कर साफ ही नहीं किया, उसे स्वेच्छा से घूमने के लिये खुला छोड़ दिया है। साँड बनते हुए इन्द्र ने सोम का वरण किया-)

वैदिक काव्य के उदात्त जीवनमूल्य गहन चिन्तन तथा अध्यात्म एक कृषिप्रधान समाज में खेत-खलिहान की धरती पर ही टिके हुए हैं। इस काव्य में प्रायः सारा अप्रस्तुत विधान वन-ग्राम, देहात, खेत या जंगल के पर्यावरण से आता है। ऋग्वेद के

ढेरों मंत्र गायों के रंभाने की प्रतिध्वनि से गुंजित हैं। यजमान देवता को पुकारता है, जैसे गायें रँभाती हैं (ऋग्वेद- १/३८/२) पर्वत की गोद से निकल कर समुद्र की ओर अभिसरण करती खुली लगाम वाली घोड़ियों की तरह भागती हुई दो सफेद गायों जैसी विपाट् (विस्तता) और शुतुद्री (सतलज) तेजी से बहती हुई कवि को दिखती हैं-

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्शुतुद्री पयसा जवेते।।
(ऋग्वेद- ३/३३/१)

गाय को भी माता कहा गया है, नदी को भी माता कहा गया है। विश्वामित्र कहते हैं कि मैं अपनी नदी माता शुतुद्री के पास तथा चौड़े पाट वाली सबसे बड़ी माता सुन्दर विपाशा के पास आया हूँ। बछड़े को चाटती दो सुन्दर गोमाताओं की तरह ये दोनों एक लक्ष्य की ओर बह रही हैं-

अच्छासिन्धुं मातृमतामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनुसंचरन्ती।।
(ऋग्वेद- ३/३३/३)

वैदिक कवियों के लिये बिजली रंभाती हुई गाय की तरह कड़कती है। बिजली पानी बरसाते मरुतो का पीछा ऐसे करती हैं, जैसे गाय बछड़े का।[१] प्रकृति के विराट् जगत् में चलते कार्यकलापों को गाय के रूपक के द्वारा प्राय: ये कवि निरूपित करते हैं। बरसात में मेढकों का टर्राना गाय और बछड़ों के मिल कर रंभाने जैसा है।[२] इन कवियों के लिये सारी दुनिया की गोव्रज या गाय का बाड़ा है, जिसे विष्णु ने खोला है।[३]

लोकसाहित्य या लोकगीतों में अभिव्यक्त पारिवारिक सम्बन्धों की रस गंध से भी वेदों के अनेक सूक्त सुवासित है। भाई-बहन, पति-पत्नी या माँ बेटे के बीच के सहज सम्बन्धों को यहाँ चित्रित किया गया है। एक मंत्र में कहा गया है - वह भाई कैसा जिसके होते हुए बहन अनाथ रहे और वह बहन कैसी जिसके होते हुए भाई के दुख दूर न हों सकें।[४] वामदेव गौतम कहते हैं कि बिन भाई की बहन ब्याह के योग्य के योग्य नहीं समझी जाती।[५] (अथर्ववेद-१/१२४/७) कहता है कि जिस कन्या का कोई भाई नहीं, वह हतवर्चसा है।

सूर्या सूक्त, जो वैवाहिक कृत्यों का भी निरूपण करता है, विवाह के समय गाये जाने वाले लोकगीतों के भावबोध को सँजोये हुए हैं। नववधू के प्रति उसके परिजनों सगे

१- वाश्रेव विद्युन्मिमाति। वत्सं न माता सिषक्ति। यदेषां वृष्टिरसर्जि। (ऋग्वेद-१/३८/८)
२- गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रासमेति। (ऋग्वेद- ७/१०३/२)
३- व्रजं च विष्णुः सखिवां अपोर्णुते। (ऋग्वेद- १/१५६/४)
४- किं भ्राता सद्यदनाथं भवति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निरगच्छत्। (ऋग्वेद- १०/१०/११)
५- अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः। (ऋग्वेद- ४/५/५)

सम्बन्धियों के मनोभाव, उसकी विदाई के समय की स्थितियाँ - इन सब के चित्रण में भारतीय पारिवारिक जीवन की छवि इस सूक्त में उभरती है -

गृहान् गच्छ गृहपत्निर्यथासौ। - ऋग्वेद- १०/८५/२६

(जैसे ब्याह के बाद लड़की घर (पति के पास) जाती है, ऐसे ही तुम भी जाओ।)

इह प्रियं प्रजया ते समृद्ध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।

(वही, २७)

(यहां संतानों के साथ तुम्हारा प्रिय हो, गृहस्थी के लिये इस घर में जागती रहो।)

महाकवियों की लोकदृष्टि

वैदिक काव्य के पश्चात् रामायण और महाभारत की रचना के साथ लौकिक काव्य का युग आरम्भ हुआ। लोकमानस सहज रूप में वैदिक काव्य में व्यक्त हुआ था, उसकी अभिव्यक्ति समग्र जातीय इतिहास तथा आख्यान, उपाख्यान आदि की परम्परा के साथ रामायण और महाभारत इन दोनों काव्यों में हुई। लोगों के उत्सव, मेले समाज, विभिन्न वर्गों के लोग इन दोनों आर्ष महाकाव्यों के विस्तृत फलक में अंतर्निविष्ट है। राम के वनवास के प्रसंग में विशेष रूप से अयोध्या के सहस्रों नर-नारियों को वाल्मीकि ने कथा का पात्र बना लिया है, जहां वे राजा के निर्णय का विरोध करते हैं, और अयोध्या का त्याग करके राम के साथ जाने को तैयार होते हैं। परवर्ती रामायणों की भांति वाल्मीकि में राम के प्रति उपास्य के भाव से वे ऐसे नहीं करते, वे एक गलत राजकीय निर्णय का सामूहिक विरोध करते हैं। वनवास के ही प्रसंग में फाल, कुदाल और लांगल लिये रहने वाला दरिद्र ब्राह्मण त्रिजट भी है, जो राम से दान मांगने आता है, और राम हँसी में जितनी दूर लाठी फिंक सके, उतनी धरती उसे दे देने की बात कहते हैं।

वाल्मीकि विराट् जन समाज को एक महासागर की तरह अपनी कविता में बार-बार प्रस्तुत करते हैं -

जनवृन्दोर्मिसंघर्षहर्षस्वनवृतस्तदा।
बभूव राजामार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः।। (वा.रा. २/५/१७)

o

जनौघैस्तेर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः।। (वा.रा. २/६/२७)

उत्सवों, समाजों या मेलों में गाँवों, जनपदों के लोग जुटते थे। इस तरह के

समाजों का उल्लेख वाल्मीकि और व्यास की रचना में कई जगह आता है। आम जनता नटो, नर्तको, गायको की कला का आनंद लेती थी। वाल्मीकि कहते हैं -

नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः।। (वही, २/६/१४)

अनेक शिल्पियों या विविध प्रकार के काम करने वाले मजदूरों का भी उल्लेख वाल्मीकि करते हैं। संस्कृत नाटकों में लोक जीवन के यथार्थ चित्रों तथा लोकनाट्य के अभिप्रायों के समावेश से भरतमुनि के लोकमर्मी के अभिप्राय को चरितार्थ किया गया है। भास के पञ्चरात्रम् में दूसरे अंक में विराट् नगर के निकट किसी बस्ती में रहने वाले ग्वालों की एक झलक मिलती है। ग्वालों के बोलने का लहजा और गायो को बुलाने के लिये मुँह से खास तरह की आवाज निकालने का अदांज यहाँ भास ने चित्रित किया है। भास का दूसरा नाटक बालचरितम् भी ग्राम जीवन की दृश्यावली और वातावरण में रंगा हुआ है। नंद गोप और अन्य ग्वालों की बातचीत का ढंग और पदावली में आंचलिकता और भेदसपन का पुट है। ग्वालों के विशिष्ट उत्सव, हल्लीसक नृत्य - जो रास और दांडिया रास से मिलता जुलता लोकनृत्य है - उसका चित्रण भास करते हैं। ग्वालों की बातचीत की शब्दावाली अभिजात भाषा से अलग है, और इस दृष्टि से इसका अध्ययन भी अपेक्षित है। उदाहरण के लिये भास ने घोष, पक्कण, आटोपसज्ज, पटहरूपवेष आदि शब्दों का प्रयोग इस तरह के दृश्यों के साथ चलने वाले संवादों में किया है, जो जनजीवन से जुड़ी पदावली की उनकी पकड़ उजागर करता है।

कालिदास के काव्यों में भी ग्राम जीवन की दृश्यावली और देहात के समाज पर कहीं कहीं दृष्टिपात किया गया है। मेघदूत में दशाणदेश का विस्तृत फलक समेटते हुए कवि ने गाँवों के देवस्थान वाले विशाल वृक्षों पर कौवों के घोंसले बनाने का चित्र अंकित किया है, किसानों की बहुओ के द्वारा निश्छल नयनों से मेघ को निहारता हुआ दिखाया है, उज्जयिनी के गाँवों में बड़े-बूढ़ों के द्वारा राजा उदयन की कहानियाँ सुनाने का उल्लेख किया है, तो रघुवंश में राजा दिलीप की गुरु वसिष्ठ के आश्रम के प्रति यात्रा में गाँव की बस्ती के बूढ़ों को ताजा घी लें कर उसके स्वागत के लिये उपस्थित किया है। धान के खेतों की रखवालिनों के गीत वे इस यात्रा में सुनते चलते हैं। दिलीप के शासन काल में बंजारिनें या लोक नर्तकियां थक कर आधी रात को सड़क पर सोयी दिख जाती हैं (रघुवंश ६/७५)। कुमारसम्भव में हिमालय के अंचलों में रहने वाले वनेचर या वनवासी पुरूष अपनी स्त्रियों के साथ घूमते या गुफाओं में रमते हुए चित्रित हैं, किरात लोग वहाँ की शीतल हवा का सेवन कर रहे हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल में राजपुरूषों या सिपाहियों के द्वारा पीटे जाते हुए मछुआरे का चित्रण, उसकी भाषा और चेष्टाओं की कवि की पकड़ तथा उसके प्रति उनकी सहानुभूति उल्लेखनीय है।

कालिदास की कविता में खेत-खलिहानों, गाँवो और वन्य-परिवेश की स्मृतियाँ

सामन्तीय समाज के वैभव और विलासिता के चित्रों या महान उदात्त चरित्रों के चित्रण के बीच बीच लौट-लौट कर आती हैं। मेघदूत में बारिश के बाद हल चलने से सौंधी महक छोड़ती धरती कवि को रमाती है। भ्रूविलास को न जानने वाली गाँव की भोली स्त्रियों की दृष्टि की वह सराहना करता है। उज्जयिनी के बगीचों में फूल चुनने का काम करती मालिनों के पसीने से क्लान्त देह क्षण भर की छाया वह चाहता है। जौ के अंकुर बार-बार कालिदास की कविता में उपमान के रूप में आते हैं। राम सीता से कहते हैं कि यवांकुर के समान पांडु वर्ण का कर्णफूल में तुम्हें पहनाना चाहता हूँ (रघु १३/४९)। शिव पार्वती से कहते हैं कि पेड़ों से छन कर आती चाँदनी के थक्के जौ के अंकुर के टुकड़ों जैसे हैं कुमारसम्भव में हिमालय के वर्णन में वनेचरों (भीलों) को अपनी स्त्रियों के साथ वह हिमालय के जंगलों में घूमता देखता है।

बाण के अनेक सुभाषित प्रस्तुत पुस्तक में संकलित हैं। जनजीवन की परम्परा के कवियों ने बाण को अपना आदर्श माना है। स्फुट सुभाषितों के अतिरिक्त बाणभट्ट के दोनों गद्यकाव्यों- कादम्बरी तथा हर्षचरित में भी कहीं उनकी जन्मभूमि प्रीतिकूट गाँव का वर्णन है, कहीं पक्कण या चांडालों की बस्ती का, कहीं शबरों के कबीले का या तो कहीं वनग्राम का। बाण-कृत वनग्राम के वर्णन का एक अंश दृष्टव्य हैं-

वहां के लोग साठी चावल का भूसा जला लेते थे और उसकी फैलती हुई आग वनैले धान तक पहुँच कर वनप्रदेश को धुमैला बना रही थी। कहीं पुराने खंखाड़ बरगद के चारों ओर सूखी लकड़ियों के अम्बार लगा कर गायो का बाड़ा बनाया गया था। कहीं बाघों ने बछड़ो पर वार किया था, तो उससे खीझ कर ग्वालों ने बाघ को फँसाने का जाल लगा रखा था। स्वतंत्र विचरण करने वाले वनपालों ने लकड़ी काटने वाले लकड़हारों के कुठार जबरजस्ती छीन लिये थे। पेड़ों के घने झुरमुट में चामुंडा देवी का मंडप बना हुआ था। वनग्राम के चारों ओर जंगल के सिवाय कुछ न था। इसलिये किसान कुटुम्ब का पेट पालने के लिये व्याकुल रहते थे और उसी चिंता में दुर्बल हो कर जोर-जोर से आवाज करते हुए केवल कुदाली से कोड़ कर परती जमीन तोड़ते और खेत के टुकड़े निकाल लेते। खेत छोटे-छोटे और कहीं कहीं पर थे। भूमि काश से भरी हुई थी। काली मिट्टी लोहे के तवे की तरह कड़ी थी। कुदाली ही किसानों का एक सहारा था। जगह जगह पर काटने से पेड़ों के ठूँठ पड़े थे। उनमें फिर से पत्ते निकल रहे थे। खेता में साँवा का जंगल लहरा रहा था। छुईमुई भी खूब बढ़ आई थी। तालमखाने के छोटे-छोटे पौधों से भी चलने में कठिनाई होती थी। खेत बड़ी कठिनाई से जोते जाते थे। खेतों के पास ऊँचे बँधे हुए मकानों से यह सूचित हो रहा था कि वहाँ जंगली जानवर उपद्रव करते हैं। जंगल के प्रवेश मार्गों पर प्याउओं का विशेष प्रबन्ध था। पेड़ों के झुरमुट में प्याउओं के स्थान

बना लिये गये थे। पथिक वहाँ आते और पल्लवो की टहनी तोड़ कर पेड़ों की धूल झाड़ कर छाया में बैठते थे। नई खोदी हुई छोटी कुइयों पर जंगली साल के फूलों के गुच्छे टाँग दिये गये थे। और समीप में नागफनी से घेर दिया गया था। वही पर प्याऊ की मड़ैया घने घास-फूस से छा ली गई थी। सत्तू खा कर पथिकों ने जो सकोरे फैंक दिये थे, उन पर जंगली मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। प्याऊ के समीप की भूमि पथिकों के खाये जामुन की गुठलियों से रंगबिरंगी हो रही थी। ... काठ की घणौचियों पर प्यास बुझाने के लिये मिट्टी की गगरियाँ, जिन पर छोटे काँटे जैसी बुँदकियों की सजावट बनी थी, रखी हुई थी।[१] ... दूसरी ओर लकड़ी के ढेरों में आग लगा कर अंगार बनाने वाले लुहार फिर उतनी ही तपन पैदा कर रहे थे। पड़ौसी प्रदेश के रहने वाले निकटवासी कुणबी (कुटुम्बिक) जाति के लोग काष्ठसंग्रह के लिये जंगल में आ रहे थे। निकट के गाँवों में रहने वाले गृहस्थों के घर पर वे अपने भोजन के सामान रख आये थे और बूढ़ों को रखवाली के लिये बिठा आये थे। लकड़ियों के साथ कुल्हाड़ा माँजने की कसरत के बरदाश्त के लिये शरीर में तेल की मालिश उन्होंने कर रखी थी। उनके कन्धों पर भारी कुठार रखे थे और गले में कलेवे की पोटली लटक रही थी।[२] गांव के लोग वन की उपज के बोझ सिर पर उठाये जा रहे थे। कोई पुराने चक्रवाक के गले की तरह लाल पीली सेहुड़ की दाल का गट्ठा लिए हुए था। किसी के पास तुरत तौडे गए गेरू की तरह लाल वर्ण वाले धाय के फूलों की बोरियाँ थीं। कई लोग रूई, अलसी, सन के मुट्ठो का बोझा लिये हुए थे। मधुमक्खी की शहद, मोर के पिच्छ, छाल उधेड़ी हुई कत्थे की लकड़ी, जिस पर खस की जटाएँ लटक रही थीं, कूठ (एक पौधा), पुराने सिंह के केसर के समान पीले पीले लोघ के भार सिरों पर उठाये बोझिये जा रहे थे। गँवइ स्त्रियों ने अनेक प्रकार के जंगली फूलो को बीन बीन कर टोकरे भर लिये थे। और उन्हें बेचने की चिंता में व्यग्र होकर जल्दी जल्दी डग रखती हुई पास गाँवों में चली जा रही थीं। एक ओर छोटी छोटी गाड़ियाँ इधर उधर चली जा रही थीं। उनमें पुष्ट तरुण बैल जुते थे। वे पुराने खाद और कूड़े के ढेर ढो रही थीं (उनमें जुते हुए बैल धूल से लथपथ थे और चलने के लिये ललकारे जा रहे थे। डगमग पहिये घिसटते हुए चूँ-चूँ कर रहे थे। जिन खेतों की उपजाऊ शक्ति कम हो गई थी, उनमें यह लादा हुआ कूडा कर्कट डाला जा रहा था। गन्ने के खूब लहलहाते हुए बहुत से खेतों के बाड़े गाँव की हरियाली बढ़ा रहे थे। खेतों के रखवाले जब गन्नों में छिपे हुए हिरनो को ताक

१- इसके आगे प्याऊ के दृश्य का सूक्ष्म वर्णन है, जो छोड़ दिया गया है।
२- इसके आगे चिड़ीमारो की वेषभूषा आदि का वर्णन छोड़ दिया गया है।

कर बैलों को हाँकने का डंडा उनकी और चलाते तो हिरन छलाँग मार कर ऊँचे ऊँचे बाँसों की बाढ़ से उस पार निकल जाते थे।..,

(हर्षचरित, जगन्नाथ पाठक का हिन्दी अनुवाद, पृ.३९७-४०३)

इसके आगे गन्ने के खेत और फिर वनग्राम की झोपड़ियों, उसमें उगी तरकारियों जड़ी बूटियों और वहाँ के सारे परिवेश का सूक्ष्म विवरण है। बाण के इन विवरणों को लोकजीवन से जुड़ी कविता में आये वनग्राम, खेत तथा प्रपा या प्याउओं के वर्णनों से मिला कर देखा जाय, तो अनुभव तथा विवरणों में गहरा साम्य है।

यह अनुभव ही लोकजीवन के कवियों को राजसभा में रचे बसे कवियों से अलगाता है। वे कवि भारतीय जनता के साथ घुल मिल गये और उसके दुख सुख में सम्मिलित हो गये लगते हैं। बाण ने कादम्बरी में कथानक को मिथक के आवरण में ढाल कर प्रस्तुत किया है, और हर्षचरित में इतिहास के आवरण में। पर दोनों गद्यकाव्यों में इस आवरण को चीर कर नौकर-चाकरों, देहात के लोगों और काम धंधों में लगी जनता के बीच वे बार-बार रमते हैं। कुछ कवि राजसी वैभव और विलासिता में रमते हैं, और कुछ सहज जीवन और बड़े समाज में रमते हैं। हर्षचरित में ही सप्तम उच्छ्वास में हर्ष की सेना के प्रयाण के समय सेवकों और पैदल सैनिकों आदि की बातचीत का लम्बा प्रसंग बाण ने रखा है। उसके कुछ टुकड़े यहाँ दिये जा रहे हैं -

"चने की बोरी टेढी हो कर झर रही है, और मैं कब से चिल्ला रहा हूँ फिर भी तू सुनता हीं ? ... अरे गड्ढ़े गिरेगा क्या ? ... अरे मनमौजी चुपचाप बैठ। ... अरे सांवीरक, तेरा घड़ा तो फूट गया। ... अरे मन्थरक, पड़ाव पर पहुँच कर ही गन्ना चूस लेना, बिगड़े बैल को संभाल, कब तक बेर बीनता रहेगा ? .. स्थावरक, खाँड की हाँड़ी को फोड़ न देना। चावलों का बोझ भारी है, बैल के मान का नहीं। .. अबे टहलुवे, सामने उड़द के खेतों में से बैलों के लिये एक पूली तो दरात से जल्दी काट ले, कौन जाने यात्रा में चारे का क्या प्रबन्ध होगा ? .. यार, बैलो को अलगाये रहो, इस खेत में रखवाले हैं। ... सगड़ गाड़ी में ओलार पड़ता है, तगड़ा घौला बैल उसमें जोतो। .. ए भाई, दुखियों के साथी कीचड़ में फँसे इस बैल को निकालो। छोकरे इधर भाग ओ, हथियों के भीड़ - भड़क्के में उधर गया, तो फिर जीता बच निकलने का उपाय नही।"

(वही, पृ.३६५-६६)

इसके आगे राजा के साथ यात्रा में चलने वाले लोगों तथा गांव में मिलने वाली जनता का वर्णन इस प्रकार है -

"ये लोग नौकर-चाकर थे, जैसे- मेठ (हाथियों की देखभाल करने वाला),

वठर (उजड्ड), लम्बन (गदहे की तरह काम लेने योग्य लद्दू नौकर), लेशिक (घोड़ों के घसियारे), लुंठक (लूट-पाट करने वाले), चेट (छोटे नौकर-चाकर) शाट (घूर्त या शठ) चंडाल (अश्वपाल) भाण्डीर (प्रगल्भ) ... ये सब यात्रा की प्रशंसा करते थे। कही पर बैचारे असहाय वृद्ध कुलपुत्र, जो किसी तरह गाँवों से मिले हुए मरियल बैलों पर सामान लाद कर और स्वयं अपने ऊपर सामान लाद कर घिसट रहे थे, बुरी तरह घबरा कर कोसने लगे .. बस यह यात्रा किसी तरह पूरी हो जाय, तृष्णा पाताल चली जाय, धन का सत्यानाश हो, भगवान बचाये इस नौकरी से। सब दुःखों की जड़ इस कटक को हाथ जोड़ता हूँ। कहीं तेजी से बहते हुए जल के प्रवाह में नावों की भांति पंक्तिबद्ध हो कर एक में एक गुँथे जैसे लोग चल रहे थे। राजाओं के अन्नपान को ढोने वाले कर्मचारी बाहर निकल रहे थे, वे अपने काले कठोर कन्धों पर भारी गट्ठर रखे हुए थे, सोने का पाद-पीठ, पानदान, पानी का कलसा, पीकदान, नहाने की द्रोणी आदि राजाओं को निजी सामग्री को हेकड़ी में इठलाते हुए ले चल रहे थे। ... कमजोर बैलों को हाँकने के लिये देहाती नौकर कुलपत्रों पर ताना कसते हुए कह रहे थे ... मेहनत तो हम करेंगे, लेकिन फल लेने के लिये भड़ुवे टपक पड़ेगे। कहीं सम्राट को देखने की उत्कंठा से गांव के लोग दोनों ओर वेग से दौड़े आ रहे थे। मार्ग के गांव से निकले हुए अनपढ़ आग्रहारिक लोग खेती-बारी की देखभाल करने वाले आगे-आगे मंगल के लिये गांव के तीन बड़े-बड़े बुड्ढ़ों के हाथों में जलकुम्भ उठाये आ रहे थे। कुछ लोग दही, गुड़, शकर और पुष्पों की करंडियाँ पेटियों में बन्द कर के जल्दी से ला रहे थे। कुछ लोग क्रोधित कठोर दंडधरों के धमकाने से दूर भागते हुए गिरते पड़ते भी राजा पर ही दृष्टि गड़ाये हुए थे। वे पहले के भोगपतियों की झूठी निन्दा कर रहे थे और पहले के कर्मचारियों की सराहना कर रहे थे और धूर्तों के अपराधों की कह सुन रहे थे। इनकी दौड़ धूप से चारों ओर से धूल भर रही थी। ... कुछ लोग जिनकी तैयार फसल सेना के लिये काट ली गई थी ..., विषाद प्रकट करते हुए उसके शोक में, अपनी गृहस्थी के साथ बाहर निकल कर प्राणों को हथेली पर रखे हुए निडर हो कर कह रहे थे .. कहाँ है राजा ? किसका राजा ? कैसा राजा ? इस प्रकार राजा को बाहर निकल कर बोली मार रहे थे। झाड़ियों में छिपे कुए झुंड के झुंड खरगोश सेना की कल कल ध्वनि से इधर उधर उचकने लगे, बस डंडा लिये हुए लोग तेजी से उन पर टूट पड़े और जैसे खेते के ढेले तोड़े जाते हैं, ऐसे उन्हें मारने लगे। ... एक ओर घसियार धूल - धक्कड़ करते दौड़ रहे थे, उनकी जाँघों पर भूसे की धूल से मिली हुई घास भर आई थी, घोड़े पर कसी हुई पुरानी काठी के पीछे उनके दरात लटक रहे थे।"

(वही, ३६८-७०)

तफसीलें और लोकजीवन से जुड़ी शब्दावली का इतना गहरा अध्येता संस्कृत कवियों में और कोई नहीं है, जितने बाण। भोगपतियों के द्वारा अकारण गाँव के लोगों को लूटना (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य संख्या- १४६) खेतिहर मजदूरों का खरगोश देख कर उनको मारने के लिये दौड़ भाग करना (प्रस्तुत पुस्तक में पद्य- १६७) या राजसेवा की निन्दा करते नौकर-चाकर (प्रस्तुत पुस्तक में सेवक शीर्षक के अंतर्गत संकलित पद्य देखें) इस तरह के काव्यों का बाण की रचना से साम्य है।

बाण गाँव में पैदा हुए थे। हर्षचरित के पहले उच्छ्वास में उन्होंने अपनी रामकहानी कही है। उसमें उन्होंने गांव की अपनी मित्र मंडली के चौवालीस लोगों के नाम गिनाये हैं। इनमें भाषा कवि ईशान, प्राकृत में रचना करने वाला कुलपुत्र वायुविकार, विषवैद्य जांगुलिक, पान का बीड़ा लगा कर देने वाला खिल्लक, वैद्य का पुत्र मन्दारक, पुस्तकवाचक सुदृष्टि, चामीकर नाम का सुनार, हीरा तराशने वाला सिन्धुषेण, लेखक (पांडुलिपियों की नकल का पेशा करने वाला) गोविन्दक, चित्रकार वीर वर्मा, मिट्टी के खिलौने बनाने वाला कुमारदत्त, मृदंग बजाने वाला जीमूत, गायक सोमिल, बड़े घरों में साजसिंगार का धंधा करने वाली सैरन्ध्री, नृत्य करने वाले, जुआरी, मान्त्रिक आदि कई तरह के लोग हैं। बाण अपनी इस मित्र मंडली के साथ देश-देशान्तर भी घूमते भटकते रहे। इस पृष्ठभूमि में आम जनता से जुड़ाव और कविता में बृहत्तर समाज को वे व्यक्त कर सके, और लोक जीवन से जुड़े कवियों की परम्परा में बाण को एक आदर्श कवि माना जाता रहा। बाण के हर्षचरित और कादम्बरी दोनों में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ वे वनग्राम, जन-जातियाँ, नौकर-चाकर गाँव-देहात के लोग जंगल आदि का सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ एक-एक ब्यौरा देते हैं और शब्दों से बहुत बड़ा दृश्यालेख रचते हैं। इसके अतिरिक्त बाण के द्वारा लिखे गये मुक्तक, जो सुभावित संग्रहो में उद्धृत हैं, जनजीवन की संस्कृत कविता में अविस्मरणीय हैं।

जिस समय भारवि, माघ या श्री हर्ष जैसे संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी के रचनाकार अपने महाकाव्य रच रहे थे, उसी समय योगेश्वर और उनकी परम्परा के कवि भारतीय जनजीवन के यथार्थ को कविता में रच रहे थे। राजसभा के जुड़े भारवि, माघ या श्री हर्ष जैसे कवि भी इन कवियों की रचना की गुणवत्ता और प्रभाव से अछूते नहीं रहे। जनजीवन की संस्कृत कविता में गाँव के सिवान के सूक्ष्म चित्र हैं। भारवि भी अपने नायक अर्जुन की हिमालय की ओर की गई यात्रा के वर्णन में रास्ते में पड़ने वाले गाँव की सीमा और उनके खेत खलिहानों का चित्रण करते हैं।

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भः।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनी भूतशरद्गुणश्रियः।।

(किरातार्जुनीय,४/२)

(झुक-झुक पड़ते धान की लहलहाती फसल से भरी,
कीचड़ साफ होने से निथरते पानी वाली
सरोवरी में खिलते कमलों से अँटी हुई
शरद् ऋतु के गुण की लक्ष्मी का उपहार बनी
गाँव की मुहानी को देखा अर्जुन ने हुए प्रसन्न।)

अर्जुन पानी से भरे खेतों में धान के पौधों की रमणीयता से प्रसन्न होते हैं (किरात. ४/९)। इसके आगे धान के खेत की रखवाली करने वाली मजदूर स्त्री का वर्णन है। यह वर्णन शृंगारमय है। उसके भौंहो के मध्य में जवाकुसुम के पराग का तिलक लगा हुआ था। बांहों के अलते का रंग बन्धुजीव के फूलों से होड़ ले रहा था (वही, ४/८)। रात के पिछले पहर में चारागाह से गाये वापस लौट रही थीं। बछड़ों के स्मरण के कारण उनके ऊधस् (थनो के ऊपर के भाग) दूध से भर गये थे और थनों से दूध गिरने लगा था। उसके कारण वे तेज नहीं चल सकती थीं। (वही, ४/१०)। उसके आगे अर्जुन ने साँडो के युद्ध का दृश्य देखा। विजयी साँड ऊचे स्वर में डकारता हुआ नदी के किनारे पर ढूसा मार कर उसे ढहाने लगा था (वही, ४/११)। उसके आगे अर्जुन ने गायो के पास अहीरो को देखा। वे गाय बछड़ों के संग ही जन्मे थे, और इस कारण इन पशुओं के साथ वे कुटुम्बी जैसे बन गये थे। अपने सरल स्वभाव में भी वे गायो जैसे ही थे। उन्होंने वन के चरागाहों को ही अपना घर बना लिया था (वही, ४/१३)। आगे भारवि ने दही मथती ग्वालिनों का चित्र भी तन्मय होकर खींचा है। दही मथते समय साँस रोक लेने के उनके अधर काँप रहे थे, उससे वे ऐसी लता की तरह लगती थी जिसका केवल एक पत्ता हिल रहा हो। दही मथते समय हाथ तेजी से घूमते, उसके साथ ही वे बगल से झुकती और कमर के नीचे का देह टेढा हो जाता। दही के भरे बड़े-बड़े घड़े जिन्हें वे मथ रही थीं, मृदंग की तरह बज रहे थे, उनकी ध्वनि को बादलो की गड़गड़ाहट समझ कर मयूरियाँ नाच करने लगी थीं। दही मथते समय ग्वालियों के स्थूल वक्ष थिरक रहे थे, परिश्रम से थक कर आँखे अलसा गई थीं, और वे नाचती हुई वारवनिताओं की तरह लग रही थी। (वही, १४/१७)।

किरातार्जुनीय के चौथे सर्ग का यह सारा दृश्यालेख गाँव के सिवान का हैं, और उसके विवरणों की समानता प्रस्तुत पुस्तक में ग्रामसीमा के बारे में संकलित अनेक पद्यों से की जा सकती हैं। अन्तर यही है कि भारवि ने इस परिदृश्य को एक यात्री की दृष्टि से बाहर-बाहर से देखा है। अर्जुन हिमालय की ओर चलते हुए रास्ते में गाँवों की दृश्यावली देखते जाते हैं। अर्जुन वर्षा समाप्त हो जाने पर शरद् ऋतु में यात्रा पर निकले थे। गाँवों के रास्तों पर अभी कीचड़ था, पर रास्ते अलग-अलग पहचाने जा सकते थे रास्तों के दोनों और खेत थे, जिनके किनारे किनारे की फसलें बैल चर गये थे (वही, ४/१७)। गाँवों के लोग निन्दनीय काम नहीं करते थे। गाँव के घर-घर पर

बेलें छाई हुई थी, जिनमें फूल खिल रहे थे। (वही, ४/१९)।

धान के खेतों का इतना विशद और विस्तृत वर्णन कदाचित् अन्य किसी संस्कृत महाकाव्य में नहीं मिलेगा, जितना भारवि, के किराताजुनीय में। इसी के साथ ग्राम की बस्ती का दृश्यालेख भी इस वर्णन में उभरता है। धान की बालियाँ पक रही हैं, उससे फसल रमणीय दिखने लगी है (वही, ४/२२)। फसल पकने से धान के पौधे पीले-पीले नजर आ रहे हैं। उनके तने पुष्ट हैं। बालियों के भार के कारण झुक-झुक पड़ते वे पौधे मानो बगल के पोखर में खिलते कमल को सूँघने के लिये झुक रहे हैं। पोखर के पानी में धान के पौधो का हरा और पीला अक्स, कमलनाल और कमल तथा पलाश की प्रतिच्छवि के साथ मिल कर इन्द्रधनुष रच रहा है (वही, ४/२६-२७)। चारागाह से बस्ती की ओर लौटती गाये दूध भरे ऊधों के द्वारा अपने बछड़ों के लिये जैसे उपहार ले-ले कर आ रही हैं (वही, ४/३१)। ग्वालिनी के मधुर गीतों के राग में सुधबुध खो कर फसल चरने को आई हरिणियाँ चरना भूल कर ठगी सी खड़ी रह गई हैं (वही, ४/३३)।

शरद् के इस वर्णन में रंगों के मिश्रण की इन्द्रधनुषी आभाओं की बार-बार छवि उकेरी गई है (वही, ४/३४,३६)। स्पष्ट ही भारवि धान के खेतों की बहुवर्णी छाया के प्रति अनुरक्त हैं। ये वर्णन भी एक अंचलविशेष से पहचान और लगाव से उपजे हैं।

माघ में तो उन ग्रामांचलों का भूगोलिक अभिज्ञान भी आसानी से किया जा सकता है, जिनका दृश्यालेख उनके शिशुपालवध में उकेरा गया है। माघ राजस्थान के श्रीमाल (भिन्नमाल-भीनमाल) गाँव में हुए थे। राजसभा के वैभव और विलास के चटख रंगों वाले चित्रों के साथ-साथ वे लोकजीवन के दृश्यालेख भी प्रस्तुत करते हैं।

भारवि के किरातार्जुनीयम् की तरह ही ये दृश्यालेख भी माघ के नायक श्रीकृष्ण की यात्रा के प्रसंग में चित्रित हुए हैं। फिर भी भारवि और माघ में अन्तर यह है कि माघकाव्य का आधार ही लोकजीवन है, उस पर अधिरचना नागर जीवन या विलासिता या चाकचक्य की कर दी गई हैं श्रीकृष्ण की द्वारका में लोग गोबर से घर लीपते हैं। घर की देहलियों में मरकतमणियाँ जुड़ी होने से भोली भाली, घरवालियाँ उनकी आभा के कारण घर को गोबर से लिपा समझ कर गोमयगोमुख' (गोबर का लेप) करते करते रह जाती हैं (३/४७) यहाँ मुग्धांगनाओं का भोलापन और देहलियों का मरकत से जड़ा होना .. दोनों आरोपित और कृत्रिम हैं, सहज सत्य तो द्वारका के घरों में गोबर का लीपा जाना ही है। इसी तरह द्वारका के घरों में बनी गोपानसी (पक्षियों के बैठने की बल्लियो) पर जब मोर आ कर बैठते हैं, तो उनके रंगविरंगे पिच्छो के कारण घर के छज्जो की मरकतमणि की आभा हरे घास के फूस में जैसे मिल जाती है (शिशु. वही, ३/४८)।

भारवि की तरह ही माघ भी खेत की रखवालिन का वर्णन करते हैं, वे रसिक नागर की तरह उसकी परेशानी का आनन्द लेते हैं।

स व्रीहिणां यावदुपासिंतु द्रुताः
शुकान् मृगैस्तावदुपदुतश्रियान्।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः
सहासमालोकयति स्म गोपिकाः।। (वही, १२/४२)

जब तक वे दोड़ती हैं भगाने को,
एक ओर से हमला बोल चुके तोतों का झुंड,
तब तक दूसरी ओर से टूट पड़ता हैं हरिणो का झुंड
वे भागती हैं कभी इस और,
कभी उस और,
कृष्ण हँस-हँस कर ताकते हैं उनकी ओर।

बाण और माघ--ये दोनों महाकवि इस अभिजात या नागर दृष्टि को भी प्रस्तुत करते हैं, पर इसके साथ ही वे मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के समाज के बीच भी शामिल हो जाते हैं। माघ श्रीकृष्ण की यात्रा के काफिले के साथ चलते हैं, वे इस काफिले के बीच से होते हुए कई बार इससे बाहर आ कर उस जनता के बीच रमने लगते हैं, जो राजसी प्रभा मंडल से दूर छिटकी खड़ी होती है। इस तरह माघ महाकाव्य का रूढ ढाँचा भी तोड़ते हैं। वे उन लोगों को महाकाव्य में ले आते हैं, जिन्हें महाकाव्य में चित्रित करने का निर्देश उनके पहले के महाकाव्य लक्षणकारों --भामह, दण्डी आदि ने नहीं दिया था। माघ के कृष्ण द्वारका से चलते हैं, तो सामुद्रिक व्यापारियों का काफिला उन्हें अपने साजो-सामान के साथ द्वीप-द्वीपान्तर से व्यापार कर के लौटता दिखता है, और कृष्ण उसका अभिनन्दन करते हैं (वही, ३/७५)। इसी यात्रा में फिर माघ अपार जनसागर को हहराता हुआ भी उपस्थित करते हैं।

यानाज्जनः परिजनैरवतार्यमाणा
राज्ञीर्नरापनयनाकुलसौवदल्लाः।
त्रस्तावगुण्ठनपटक्षणलक्ष्यमाण-
वक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षते स्म।। (वही, ५/१७)

रथ से उतार रहे हैं रानियों को परिजन
भीड़ को भगा रहे हैं कंचुकी आकुल मन।
क्षण भर को व्यक्त हुए अवगुंठन के भीतर त्रस्त सुन्दरता
झलक भर में देख रही है जनता।
जो भय और कौतुक दोनों सी भरी है।

गाँव की गलियों में धूल में छोटे-छोटे बच्चे खेल रहे हैं। राजा की सेना के घुड़सवार सरति हुए गली में से गुजरते हैं, और बच्चों का झुंड देख कर बहुत जोर से लगाम खींच कर किसी तरह घोड़ों की रोकते हैं, जिससे बच्चे कुचलने से बच जाते हैं। बच्चों की माताएँ तत्क्षण दौड़ कर आती हैं और बच्चों को गोद में उठा कर ले जाती हैं। गाँव को रौंदती सेना का त्रास और माताओं का अपने-अपने बच्चों को धोड़ो के आगे से झट से ले कर भागने का दृश्य माघ की यथार्थ की पकड़ और गहन संवेदनशीलता को मूर्त करता है -

अवेक्षितानायतवल्ममग्रे तुरङ्गभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः प्रथुकान् पथिभ्यः।।

कहीं राजा की सवारी को कौतुकमिश्रित भय से देखती जनता माघ काव्य में उपस्थित होती हैं, तो कहीं अपने बच्चों को उसके आक्रन्दन से बचाती माताएँ। कहीं वह बड़े लोगों के सामने बेबस प्रतीक्षा की मुद्रा में भी खड़ी हैं।

नादातुमन्यकरिमुक्तमदाम्बुतिक्तं धूतांशुकेन न विहातुमपीच्छाताम्भः।
रुद्धं गजेन सरुषा सरितोन्वतारे रिक्तोदपात्रकरमास्त चिरं जनौघः।।
(वही ५/३३)

अन्य किसी वन्य हाथी के
मदजल से पिच्छिल
जल को नहीं चाहता पीना
हाथी राजा का। खा कर भी अंकुश की मार
बाहर आने को भी
नहीं है पर वह तैयार
उतर गया जो नदी में एक बार।
इधर खाली घड़े हाथों में लिये
झुंड लोगों का खड़ा हुआ है
बड़ी देर से लाचार।

या फिर कहीं राजा के हाथी ने किसी पेड़ से अपना तन खुजलाते हुए मधुमक्खियों के छत्ते को हिला दिया है, जिससे मधुमक्खियाँ लोगों को काटती हुई उनके ऊपर मँडरा रही हैं, और लोग भाग रहे हैं (वही, ५/५४)।

माघ काव्य में आभिजात्य और भदेसपन दोनों एक साथ इस तरह के प्रसंगों में प्रस्तुत होते हैं। वे जनता से अन्तरंग रूप से जुड़ते हैं, रईसो के ठाठबाट का भी चित्र उकेरते हैं। राजस्थान में चलते ऊँटों के काफिले, ऊँटो का बिलबिला उठना, दास-दासियों का परिहास और लोगों की विविध चेष्टाएँ -इन सब के शब्दचित्र उनकी कलम ने

प्रामाणिक रूप से खींचे हैं। कृष्ण की यात्रा का यह दृश्य है।

त्रस्तः समस्तजनहासकरं करेणोस्तावत् खरः प्रसभमुल्ललयाञ्चकार।
यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्बविस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात।।

हथिनी से घबरा कर, गदहा जो हुआ उलार,
हंस पड़े लोग बाग
उस पर पसरी फिसल पड़ी फिर दासी
नितम्ब से सरकता वस्त्र संभाले
वह आ गिरी धरती पर।

दूसरी और घोड़े पर सवार दासियों को कंचुकी उतार रहे हैं, और उतारते हुए वे उनका आलिंगन सहज ही पा जाते हैं, मर्यादा का ध्यान रख कर वे उनके कपोल नहीं चूमते (वही, ५/१८)।

माघ में इस धरती के बाशिंदों की भीड़ बार-बार सामने आती है। काम में लगे लागों की चेष्टाएँ वे पकड़ते हैं। खेतों और खलिहानों में वे रमते हैं। सामान्य जनो की चेष्टाओं का सूक्ष्म पर्यविक्षण उनके प्रति अनुराग के कारण ही हो सकता है। भारवि ने गोपियों के गीत सुनने में तन्मय हरिणियों के फसल चरना छोड़ देने का उल्लेख किया है, माघ का यह वर्णन उनसे प्रेरित हो कर भी अधिक रागात्मक है--

विगतसस्यजिघत्समघट्टयत् कलमगोपवधूर्न मृगव्रजम्।
श्रुततदीरितकोमलगीतक ध्वनिमिषं निमिषेणक्षणमतः।।

(वही, ६/४९)

निर्मिमेष निहारते, हिरनों के झुंकड थम कर खड़े रहे गये हैं।
मर गई है उनकी, फसल चरने की इच्छा,
गा रही धान के खेत की रखवालिन,
वे सुन रहे हैं उसके कोमल गीत की धुन।
वह भी उनको खदेड़ती नहीं है खेत से।)

यह भी सम्भव है कि भारवि और माघ दोनो ने स्वतन्त्र रूप से इस तरह के वर्णनों में उस समय गाँव -देहात में प्रचलित लोकगीतों से प्रेरणा ली हो।

बाण की ही तरह माघ सामान्य जनों के बीच रुकते हैं, वे उनके सुख-दुख, हंसी मजाक में शामिल हुए लगते हैं। वे उनकी चेष्टाओं में रमते हैं। अपना पहरा खतम होने पर बदली पर आने वाले पहरुए को जगाते सैनिक का यह चित्र इसी लगाव और जुड़ाव से अंकित हुआ है- सबेरे अपनी पारी का समय बीतते ही उनींदा पहरुआ अपने साथी को जगा रहा है। वह चिल्ला-चिल्ला कर साथी का नाम पुकारता है और जागो-जागो कहकर उसको झकझोरता है। साथी अस्पष्ट हाँ-हूँ कुछ कहता हुआ नींद

में लटपट बोली बोलता हुआ भी आँखें नहीं खोल रहा है (वही, ११/४)। और भी प्रमुदित भाव से ग्वालों के द्वारा दही मथ कर उसमें से मक्खन का गोला निकालने का यह दृश्य खींचा गया है।

पहाड़ की तरह मथानी को,
वे बहुत तेज तेज हाथों से,
दही के सागर में घुमाते हैं,
उठता है मथने का घोर गम्भीर नाद।
सागर जैसे विशाल क्लसी बिला कर,
वे निकाल रहे हैं मक्खन का सार,
जैसे देवता सागर को मथ कर निकालते हो चन्द्रमा।

कृष्ण अपनी यात्रा में गाँवों से गुजरते हुए गोठ में गोला बना कर बैठे मधु पीते ग्रामीणों को देखते हैं, जो मदिरा पी रहे हैं (वही, १२/३८)। ग्वालिन उन्हें अपनी बड़ी-बड़ी भोली आँखों फाड़ कर ताकती रह जाती हैं। (वही, १२/३९)। गायो के दोहन का दृश्य कृष्ण का मन रमा लेता है। गाय निकट खड़े बछड़े को नेह में भर कर चाट रही है। दूध की धाराएँ बर्तन में गिरने का सुर क्रमशः बढ़ता है। इधर हाथ में जोर से बाँधने की रस्सी लिये ग्वाला खड़ा हुआ है। गाय उसकी ओर आती हुई जोर से रँभाती है और फिर अपनी टोली छोड़ कर झट से उसकी ओर दौड़ पड़ी है। (वही, १२/४०,४१)।

माघ अपने शब्दकोश की सम्पन्नता के लिये बहुत सराहे जाते हैं। उन्होंने कुछ शब्द अपने अंचल में प्रचलित बोली से उठाये हैं। ऐसा ही एक शब्द है-- लंघी, जिसका अर्थ वल्लभदेव ने ऊँटगाड़ी किया है। लंघी उलट जाती है और उसमें बैठी दासी गिर पड़ती है (वही, १२/२४) लंघी शब्द प्राचीन संस्कृत कोशों में नहीं मिलता। यह संस्कृत का शब्द नहीं है, अतः माघकाव्य के लिपिकारों ने इसके स्थान पर संस्कृत शब्द लध्वी रख दिया होगा। मल्लिनाथ ने लध्वी पाठ ही इस पद्य में स्वीकार किया है, और उसका अर्थ छोटी गाड़ी किया हैं कोशग्रन्थों में तो लध्वी शब्द भी इस अर्थ में नहीं मिलता। माघ राजस्थान के थे और मल्लिनाथ उनके ६००-७०० साल बाद दक्षिण में हुए। अतः माघ के आंचलिक शब्दकोश से उनका अपरिचय स्वाभाविक था और उसके कारण अन्यथा पाठ ले कर कुछ लीपा पोती के साथ उन्हें यहाँ व्याख्या करना पड़ी।

इसी तरह मिट्टी के सकोरे के लिये माघ ने 'उष्ट्रिका' शब्द का प्रयोग किया है। समूह या लोगो की भीड़ उन्हें आकर्षित करती है। जनता और जन इन दो शब्दों का उन्होंने इस दृष्टि से बार-बार प्रयोग किया है (वही, ५/१४,१६; १२/३२) वे जनता की सैंकड़ों नदियाँ बहती हुई देखते हैं (वही, १२/२९)

माघ लोगों के कौतुक, हडबड़ी, उनकी सहज चेष्टाओं में रस लेते हैं, तथा वे उस स्वभावोक्ति का भी प्रयोग बार-बार करते हैं, जिसकी चर्चा ऊपर की गई हैं। डेरा डालते समय कोई सैनिक दूसरे गुट के सैनिकों को अपने तम्बू पर कब्जा करने को आता देख कर अपने गुट के लोगों को किस तरह हाथ ऊपर उठा कर चिल्ला कर बुलाता है (वही ५/१५), गाड़ियाँ किस तरह उलार होती हैं, उनमें रखे मिट्टी के भाँडे फूटते हैं (वही, १२२६), काहला (एक वाद्य) के साथ साथ स्त्रियाँ किस तरह काहल गीत गाती हैं (वही, १८/५४) इस तरह के वर्णनों की माघ में भरमार है।

माघ के बाद के महाकवियों में श्रीहर्ष ने अपने नैषध महाकाव्य में नगर के बाजार में चक्कियों से उठते सत्तू की सुगन्ध से मिले घर्घर शब्द के द्वारा घर जाते पथिकों के आकृष्ट होने का उल्लेख किया है (नैषधीयचरित २/८५) तथा सोलवें सर्ग में बरातियों के हास-परिहास, ठाठ और ठसकों के बीच अनेक वैवाहिक लोकाचारों का विवरण दिया है।

इन अभिजात महाकाव्यों की धारा से कुछ अलग हट कर दो कवियों ने उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के पाखंड तथा दोहरे जीवन का फब्ती कसते हुए बहुत बेबाक ढंग से चित्रण किया है। ये कवि हैं - कुट्टनीमत - महाकाव्य के लेखक दामोदर तथा बहुसंख्य काव्यों के रचयिता क्षेमेन्द्र। क्षेमेन्द्र का परिचय यहाँ आगे दिया गया है। दामोदर आठवी शताब्दी में कश्मीर में हुए। इन्होंने कुट्टनीमतम् में हास्य, व्यंग्य, विरूपीकरण, विडम्बन शैली के प्रयोग तथा यथार्थ की सधी हुई पकड़ के साथ वेश्याएँ, कुट्टनियों तथा रईसों के जीवन का चित्रण किया है।

कल्हण की राजतरङ्गिणी ऊपर चर्चित महाकाव्यों से सर्वथा अलग ही कोटि की कृति है। कल्हण का मुख्य प्रतिपाद्य तो कश्मीर का इतिहास है, पर उन्होंने अपने समय के समाज को सजीव रूप में इस महाकाव्य में साकार कर दिया है। सताई हुई प्रजा के करुण चित्र कल्हण नें अंकित किये हैं, विशेष रूप से दुर्भिक्ष के समय आम जनता की दारुण दुरवस्था का वर्णन बहुत सहानुभूति के साथ उन्होंने किया है (राजतर. ७/१२१८-२६)। कल्हण को राजाओं का इतिहास बखानने में उतनी रुचि नहीं, जितनी घटनाओं की सारे समाज पर पड़ने वाले प्रभाव और सामान्य जन की कथा कहने में। लालची राजा के राज्य में विपत् की भारी प्रजाओं की विडम्बना का अनुभव कल्हण ने किया है -

एकतो व्याधिदुर्भिक्षप्रमुखा विपदोऽखिलाः ।
प्रजानामेकतस्त्वेका लुब्धता वसुधापतेः ।। (राजतरङ्गिणी, ५/१८७)

(एक ओर तो प्रजाओं के ऊपर पर गिरने वाली दुर्भिक्ष, महामारी आदि व्याधियाँ हैं, दूसरी ओर राजा कर लालच है।)

कल्हण ने देखा कि राजाओं से अधिक राजा के अधिकारियों से प्रजा त्रस्त रहती है। राजाधिकारी तो प्रजा को खुले हाथ लूटते हैं। कल्हण के काव्य की पुकार ही ऐसे अधिकारियों से आम लोगों की रक्षा की है। वे कहते हैं -

जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनंश्च ताः।
रक्षांस्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः।। (वही, ८/८६)

(अधिकारीगण हत्यारे, पापी तथा दूसरों के सर्वस्व को हड़पने वाले होते हैं। इनसे प्रजा को बचाये।)

कल्हण ने प्रजावत्सल राजाओं के आचरण का वर्णन भी इतने ही संवेदनशील अभिनिवेश के साथ किया है। राजा तुंजीन के लिये वे कहते हैं-

"राजा तुंजीन के शासनकाल में ही द्वैपायन व्यास मुनि का अंशावतार एवं नाटककार चन्दक नाम का कवि हुआ था। जैसे उन दोनों के पुण्यप्रभाव की परीक्षा के निमित्त ही एक बार अकस्मात् उसकी प्रजा पर असह्य दैवी विपत्ति आ पड़ी। जब भादों के महीने में धान की फसल खड़ी हुई थी, सहसा बहुत जोर से बर्फ गिरने लगी। सारे विश्व का सर्वनाश करने को उद्यत महाकाल के अट्टहास जैसे उस भीषण हिमपात से प्रजा की आशाएँ धराशायी हो गई और खेत के खेत बर्फ में दब गये। फिर दुर्भिक्ष का घोर विप्लव शुरू हुआ, जो भूख से तड़प तड़प कर मरने वाले हजारों प्रेतों से भरे नरक के प्राकार के जैसा था। उस भयावह अकाल में भूख से बिलबिलाते पेट पालने की चिंता में डूबे लोग पत्नी का प्रेम, पुत्र के प्रति स्नेह, तथा पिता के प्रति भक्तिभाव सब भूल गये। भूख की ज्वाला से सन्तप्त हो कर लोकलाज, कुलीनता, तथा स्वाभिमान आदि सद्गुण को बिसरा कर धनी लोग लक्ष्मी के कटाक्ष के कारण इतराते हुए और भी मदमत्त हो उठे। भूख से कंठ तक प्राण आ जाने पर दुर्बल पिता भोजन माँगता हुआ अपने पुत्र को भी अनदेखा करता था। तथा अपना पेट भरता था। इसी तरह क्षुधा से तड़पते पिता को न देख कर पुत्र अपना पेट भर लेता था। केवल हाड़ और चर्म उन लोगों की देह पर बचे रह गये थे। अपने शरीर को बचाने के लिये वे भोजन पाने का प्रेतों की तरह आपस में झगड़ पड़ते थे। वे एक दूसरे को जली कटी सुनाते थे और भोजन की लालसा से चारों ओर ताकते थे। हर आदमी सारे संसार के प्राण खा कर भी अपने प्राण बचाना चाह रहा था। प्राणियों के लिये अत्यन्त दुस्सह महाभयानक उस घोर अकाल में केवल उसी राजा में करुणा भाव दिखता था। जब प्रजा की दशा बहुत शोचनीय हो गई, तब उसने अपने महल से सारे द्वारपाल हटा दिये और सीधे जनता से मिलने लगा। उसका दर्शन लोगों के लिय रत्न और औषधि पाने जैसा था। अपने दर्शन से वह लोगों की दरिद्रता का दुख हर लेता था। फिर उस राजा ने अपनी

पत्नी के साथ मिल कर अपने सारे कोश और उसमें मन्त्रियों का भी कोश मिला कर उससे अन्न खरीदना शुरू किया और उस अन्न को प्रजाओं में बाँटने लगा। उसके कारण लोग जीवित रह पाये। वह जंगलों, श्मशानों, गलियों और बाजारों में घूमता रहता और जहाँ कहीं भी भूख से बिलखता आदमी मिलता उसकी सहायता करता था।"

(राजतरं. २/१९-२९)

इसके आगे राजा तुंजीन के प्रजा के दुख से दुखी होकर आग में जल कर प्राण त्यागने के प्रयास करने का करुण वर्णन है।

इसी प्रकार कल्हण ने बहुत सराहना के भाव से राजा उच्चल के प्रजावात्सल्य का वर्णन किया है -

"किसी दुखी व्यक्ति का आर्त, करुण क्रन्दन सुन कर वह राजा अपने आप को काबू में नहीं रख पाता था। ... बात करते समय जैसे उसके मुख से अमृत बरसता था, इसके कारण वह प्रजा में बहुत लोकप्रिय हो गया था। अपनी प्रजा के लोगों की तकलीफ सुनते ही वह उनके दैन्य का निवारण ऐसे करता था, जैसे पिता पुत्र के लिये करता है। ... सारे काम छोड़कर राज्य में कभी अकाल पड़ता तो वह सस्ते दामों पर लोगों को अपने कोश का संचित अन्न दे देकर अकाल को पनपने ही नहीं देता था।"

(वही, ८/५२, ५७-६१)

पर प्रजा पर अत्याचार करने वाले राजाओं तथा प्रजा के संत्रास और कष्टो का भी वर्णन कल्हण ने अनेकत्र किया है। राजतरंगिणी के सातवे तरंग में राजा हर्ष की क्रूरता का कच्चाचिट्ठा लोमहर्षक है।

"उस राजा के अतिचारों के कारण राज्य में महामारी फैल गई। चारों ओर चीख पुकार सुनाई देती थी तथा शवयात्रा के समय बजाये जाने वाले वाद्यो का स्वर थमने को नहीं आता था। इसके साथ ही राज्य में ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि कश्मीर के गाँव के गाँब पानी में डूब गये। जीवनोपयोगी वस्तुओं का अकाल पड़ गया। पाँच सौ दीनार में एक खारी चावल और एक दीनार में दो तौले अंगूर का रस बिकने लगा। छह दीनारों से एक तोला ऊन मिलता था। नमक, मिर्च और हींग का तो नामो-निशान ही नहीं था। पानी में फैंके गये और सड़ कर फूले शवों से नदियाँ पटी हुई थीं। उनके कारण नदियाँ ऐसी लगती थीं, जैसे देवदारु के जंगल के जंगल काट कर उनमें बहा दिये गये हों। इसी समय उस मूर्ख राजा के दिमाग में यह बात आई कि चारों ओर जंगल से घिरी होने से राजधानी दिखाई नहीं देती है, तो उसके जंगल काटने का आदेश दे डाला।

आदेश मिलते ही हरे भरे, फूलों और फलों से लदे पेड़ धराशायी किये जाने लगे। तिस पर दुखियारीप्रजा पर वह राजा ऐसे अत्याचार ढहा रहा था, जैसे जीवनभर बोझा ढोते ढोते बुढा गये और कृशकाय हुए बैल के माथे पर पत्थर की बोछार की जा रही हो। उसने अपने कायस्थ (बाबू) कर्मचारियों की सलाह पर तरह तरह के कर लगा कर जनता को इतना सताया कि गांव और नगरों की मिट्टी भी राजकीय कर से नहीं बच पाई।"

(वही, ७/१२१७-२६)

राजतरंगिणी के बाद जगडूशाहचरित महाकाव्य भी गुजरात के भीषण अकाल की घटनाओं को प्रस्तुत करता है। वस्तुतः ये महाकाव्य रुद्रट के ऊपर चर्चित इस काव्यशास्त्रीय विधान को चरितार्थ करते हैं कि दरिद्रता, व्याधि आदि दुःखों का वर्णन महाकाव्य में भारतवर्ष के संदर्भ में किया जाना चाहिये।

अन्य महाकाव्यों में भी प्रसंगवश गांव के परिवेश या कर्षकजीवन की चर्चा आई है। जैन परम्परा के महाकाव्य प्रद्युम्नचरित में तेज बारिश में खेत में हल आदि छोड़ कर भागते किसानों का चित्रण है -

सीत्कारवायुपरिकम्पितविश्वलोके
वेगाद् विमुञ्चति जलं नववारिवाहे।
सर्वं हलोपकरणं च विहाय तस्मिन्
कृच्छाद् जगाम भवनं प्रतिवेपिताङ्गैः ।। (प्रद्युम्नचरित ५/१०४)

परवर्ती कवियों में नीलकण्ठ दीक्षित की काव्यपरिधि भी विशाल है। अपने दो महाकाव्यों - गंगावतरण तथा शिवलीलार्णव में उन्होंने प्रसंगवश सामान्य जनजीवन के संदर्भ दिये हैं। उसके साथ ही नीलकण्ठ ने अनेक मुक्तक काव्य भी लिखे हैं, जिनमें से कुछ यथार्थ परक मुक्तक प्रस्तुत पुस्तक में संकलित हैं।

भास और कालिदास के समानान्तर संस्कृत में लोकनाट्यों की परम्परा चली आ रही थी। बाद में आचार्यों ने इन लोकनाट्यरूपों को शास्त्रीय दृष्टि से उपरूपक कह कर परिभाषित और विभाजित कियां। इस उपरूपक-परम्परा या लोकनाट्यपरम्परा का संस्कृत के बड़े-बड़े नाटयकारों पर भी प्रभाव हुआ। रूसी समीक्षक सेरेब्रयाकोफ के अनुसार कालिदास में धीवर तथा विदूषक जैसे पात्रों की परिकल्पना के पीछें यही लोकनाट्यपरम्परा प्रभावी है। बाद के जिन नाटककारों पर लोकनाट्यों का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है, उनमें भवभूति और राजशेखर के नाम लिये जा सकते हैं।

भवभूति ने दो नाटक- महावीर चरित तथा उत्तररामचरित - रामायण की कथा को ले कर लिखे, तथा एक प्रकरण - मालतीमाधव - लोककथा से प्रेरित हो कर लिखा।

रामायणाश्रित नाटकों पर लीला-शैली का प्रभाव है। भवभूति के नाटक के यात्रामहोत्सव में विराट् जनसमुदाय के आगे खेले गये थे। इन यात्रामहोत्सवों में बड़े- बड़े नाटककारों के नाटक भी खेले जाते थे, और रासक, हल्लीसक आदि लोकनाट्य शैली के उपरूपक भी। ऐसी स्थिति में लोकनाट्यरूपों की अन्तःक्रिया उन नाट्यकारों के रचनाओं में सर्वथा सम्भाव्य थी, जो मन्दिर की रंगशाला के नाट्यरचना करते थे। भवभूति के उत्तररामचरित में सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त में घोषित करता है, कि अब मैं अयोध्या में पहुँचने वाला एक नागरिक और उस समय का एक पात्र बन जाता हूँ। अनुकर्ता और अनुकार्य का सहावस्थान इस तरह से लोकनाट्यरूपों में ही देखा जा सकता है, अभिजात रंगमंच के लिये यह विजातीय है। मालतीमाधव की प्रस्तावना के अन्त में भी सूत्रधार कहता है कि यह मैं कामन्दकी (नाटक का प्रधान स्त्री पात्र) बन गया और उसका सहायक पारिपार्श्विक कहता है- यह मैं अवलोकिता बन गया। इसके साथ ही वे भगवा वस्त्र ओढ कर बौद्ध भिक्षुणी बन जाते हैं। यह शैली अभिजात मंच की नहीं है। एकालापों का प्रयोग भी भवभूति बार-बार अपने नाटकों में करवाते हैं। इनमें से कई एकालाप दर्शकों को सम्बोधित लगते हैं। अपने स्वगत कथनों में उनके पात्र दर्शकों को सम्बोधित करते हुए लगते हैं। दो पात्रों का बारी- बारी से एक श्लोक की कड़ियाँ बोलना, दो या अधिक पात्रों का एक ही श्लोक एक साथ बोलना- ये भी इसी तरह के प्रयोग हैं, जो लोकनाट्य से प्रेरित ही हो सकते हैं। उत्तररामचरित के अंतिम अंक में भवभूति ने कुश-लवों के द्वारा रामायण के पद्यों का गायन भी करवाया है, और सातवे अंक में तो उन्होंने वाल्मीकि के निर्देशन में राम,लक्ष्मण तथा अन्य पात्रों के आगे रामलीला के सीतावनवास प्रसंग की गर्भांक (नाटक के भीतर नाटक) के रूप में प्रस्तुति भी करा दी है। यह गर्भांक वाल्मीकि के आश्रम में खुले मैदान में खेला जा रहा है, जहाँ चराचरभूतग्राम या सारी सृष्टि इसकी दर्शक है।

भवभूति के पश्चात् राजशेखर ने अपने रूपकों में लोकनाट्य के अनेक अभिप्रायों को कथानक या नाट्यसंरचना के स्तरों पर अंगीकृत किया है। विद्धशालभंजिका नाटिका तथा बालरामायण - नाटक में उन्होंने कठपुतली नृत्य से प्रभावित दृश्यसंयोजना की है। उनका कर्पूरमंजरी पूरा का पूरा प्राकृत में लिखा हुआ रूपक है, जिसे शास्त्रीय दृष्टि से उपरूपकों के अंतर्गत सट्टक के रूप में परिभाषित किया गया है। कर्पूरमंजरी में एक लोकनाट्य-चर्चरी - को अंतिम अंक में राजशेखर ने प्रस्तुत किया है। इस चर्चरी में नृत्य करते हुए कई समूह हैं। एक नर्तकियों का समूह हाथ में डंडे लिये दंडरास (डाँडिया रास) कर रहा है। तीसरे समूह में नर्तकियाँ मोर पंख लगाये हुए पुलिंद-नृत्य कर रही हैं। चौथे समूह में नर्तकियाँ मुखौटे लगाये हुए श्मशान नृत्य कर रहीं हैं। एक अन्य समूह में हुडुक्का और मद्दल (मादल) के साथ चल्लि नृत्य हो रहा है। इसके अतिरिक्त भी विभिन्न नृत्य करते हुए समूह इस चर्चरी में हैं। कुल मिलाकर

राजशेखर ने उस समय के लोकनृत्यों, जनजातियों में प्रचलित नाट्यरूपों को चर्चरी के अंतर्गत प्रस्तुत करा दिया है।

संस्कृत नाट्य परम्परा में रूपक क्लासिकी रंगमंच का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो उपरूपक लोकनाट्यों का। उपरूपकों का सम्बन्ध बड़े जनसमाज से और मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के प्रेक्षक समुदाय से अधिक था, इससे इनमें गतिशीलता और परिवर्तनप्रवणता भी ज्यादा थी। अतः उपरूपकों की संख्या सदैव रूपकों की संख्या (दस) के समान सुनिश्चित कभी नहीं रह पाई। आरम्भ में अठारह उपरूपकों का उल्लेख मिलता है, पर नाट्यशास्त्र विषय के बाद के ग्रन्थों के सारे उपरूपकों के नाम और लक्षण एकत्र करने पर इनकी कुल संख्या पचास के आस-पास पहुँच जाती है। इन उपरूपकों में डोम्बी (डोम जाति की स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला नृत्य) दण्डरासक (डाँडिया रास), भाणिका, भाणी, हल्लीसक रासक, शम्या आदि तो अलग अलग अंचलों या जनसमाजों में प्रचलित लोकनृत्य है, प्रस्थान, प्रेक्षण या प्रेंखण, शिल्पक, षिद्गक, संलाप या संलापक आदि ऐसे उपरूपक हैं जिनमें दास-दासियाँ, निम्नवर्ग के लोग या धूर्त लोग ही नायक अथवा प्रधान पात्र हैं। संस्कृत के आचार्यों ने अपने नाट्यशास्त्र अथवा संगीतशास्त्र पर रचे शास्त्र-ग्रन्थों में इन को परिभाषित इसलिये किया है कि इनके लिये गीत संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा में रचे जाते थे, और रूपकों की साहित्यिक परम्परा से इनका सम्बन्ध बना हुआ था। नये उपरूपक भी संस्कृत में बराबर लिखे जाते रहे। आचार्यों ने उपरूपकों को परिभाषित करते हुए नये नये उपरूपकों के उदाहरण दिये हैं।

लोकधर्मी काव्य परम्परा का अभिजात काव्य परम्परा से सम्पर्क

संस्कृत की इस लोकधर्मी काव्य परम्परा का महान् कवियों की रचनाओं से सम्पर्क रहा है तथा इतर काव्यपरम्पराओं से उसकी परस्परता भी रही है। लोकधर्मी काव्य परम्परा के प्रभाव से संस्कृत कविता में दारिद्रय वर्णन की एक रूढ़ि भी बनी। महान् कवियों ने भी अपनी रचनाओं में दारिद्रय वर्णन के अभिप्राय का समावेश किया। शूद्रक के मृच्छकटिक में दरिद्र चारुदत्त के मार्मिक कथन इसी क्रम से आये हैं (२९६-९७)। वाचिक परम्परा में प्रचलित या संस्कृत पंडितों के बीच कहे सुने जाने वाले पद्यों में भी दरिद्रता का चमत्कारपूर्ण या अतिशयोक्तिमय वर्णन इस क्रम में रूढ़ि की तरह प्रचलित हुआ। बलदेव उपाध्याय ने अपनी सूक्तिमंजरी में इस तरह के कुछ पद्य उद्घृत किये हैं। जैसे-

भूयिष्ठं द्रविणात्मजं गणयितुं लिप्सावता चेतसा
नार्यः पञ्च मया क्रमेण कुलजाः काले समुद्वाहिताः।
सद्विद्या, कविता, विदेशवसतिः, सेवा तथाभ्यर्थना
देवेन प्रतिबन्धकेन युगपद् वन्ध्याः समस्ताः कृताः।। (सूमं., पृ.६७)

अर्थात धनरूपी बेटे को जन्म देने की इच्छा से मैंने पांच कुलीन नारियों से विवाह किया सद्विद्या, कविता, विदेशवसति, सेवा तथा याचना। पर प्रतिबन्धक भाग्य ने इन पाँचों को वन्ध्या बना दिया।)

यह एक दरिद्र पंडित का परिदेवित प्रतीत होता है। लोकधर्मी काव्य परम्परा में मिलने वाली संघर्ष की चेतना न हो कर यहाँ भाग्य से परास्त होने का भाव है। इसी भाव को चमत्कारपूर्ण बना कर इस तरह के पद्यों में व्यक्त किया जाता रहा है -

दारिद्रच शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ?।। (वही)

(हे दारिद्रच, मैं तो तुम्हारे लिये ही शोक करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे देह में मित्र की तरह रहते आये हो, और अब जब मेरा देह छूट रहा है, तो मुझे चिंता है कि तुम कहां जा कर रहोगे?)

योगेश्वर तथा उनकी परम्परा के कवियों ने बारिश में टपकते घर आदि के जो चित्र अंकित किये हैं, उनके अभिप्राय लेकर इस तरह के पद्यों की रचना प्रचलित हो गई। विद्याकरसहस्रकम् जैसे परवर्ती सुभाषितसंग्रहों में इस तरह के अनेक पद्य मिल जाते हैं। जनजीवन पर रचे गये मुक्तकों की लोकप्रियता के कारण अभिजात कवियों ने उनमें वर्णित या विवृत प्रसंगों, संदर्भों को अपनी रचनाओं में कहीं रूढ़ि की तरह, कहीं अभिप्राय की तरह या कहीं रसोद्बोधक सामग्री की तरह उठाया। ग्रामजीवन पर ग्रामेयी नाटिका लिखी गयी। दरिद्रों के जीवन पर दरिद्रशतक लिखा गया। रूपको और उपरूपको की परम्परा में भी लोकधर्मी कविता ने दूरगामी प्रभाव छोड़ा। उदाहरण के लिये भाण नामक रूपक में कोई विट (दलाल) वेश्याओं के मुहल्ले या वेशवाट का एकालाप शैली में वर्णन करता हुआ वहाँ रहने या आने जाने वाले पात्रों से संवाद करता चलता है। भाण की इस संरचना को किंचित् तोड़ते हुए बाद के एक कवि ने महिषमंगलभण की रचना की, जो गांव के एक भैंसे से सम्बन्धित है। योगेश्वर जैसे समर्थ कवियों ने लोक जीवन अपने जीवन्त चित्रण के द्वारा पूरी संस्कृत काव्य धारा में नये प्राणों को स्पन्दित किया, और ऐसे कवियों की पदावली या अभिव्यक्ति उनके समय के या बाद के अन्य कवियों ने उधार ली। लोक जीवन पर रचे किसी अच्छे पद्य की एक दो पंक्तियाँ ले कर बाद के किसी कवि ने उसमें अपनी ओर से चमत्कार पूर्ण कोई उक्ति या वर्णन जोड़ कर पद्य पूरा करने का उपक्रम भी कभी-कभी कर डाला। उदाहरण के लिये यहां संकलित पद्य सं० ७७ में उत्तरार्ध यह है-

किञ्च क्षुत्क्लमघूर्णमाननयनैरुन्निद्रमुर्वीगतै-
कर्तुं सवारव्ययमक्षमैः स्वजननी बालैः समालोक्यते।।

प्राचीन सुभाषितसंग्रह संकमृ० में यही पाठ मिलता है। किन्तु वल्लभदेव की सुभाषितावली

में जो कुछ बाद की है, इस पद्य का उत्तरार्ध यह है-

इत्यापन्नशिशूनसून् विजहत: सम्प्रेक्ष्य झिल्लीरवै-
र्लूतातन्तुवितानसंवृतमुखी चुल्ली चिरं रोदिति।।

(आपद् ग्रस्त शिशुओं को, जो प्राण छोड़ने वाले हैं, देख कर झिल्ली की झंकार के द्वारा मकड़ियों के जाले में मुँह छिपाये चूल्हा झिल्लियों की झंकार के द्वारा मानो बड़ी देर से रो रहा है।)

इस नये पाठ में उत्प्रेक्षा का चमत्कार है, पर पहले पाठ में भूख से कलपते बच्चों का चित्र है, जिनकी आँखें उलटी पड़ रही हैं, तथा बोलने में अशक्त जो केवल अपनी माँ को टुकुर-टुकुर ताक रहे हैं, यह चित्र चमत्कारपूर्ण उत्प्रेक्षा की तुलना में उस जीवन के अधिक निकट है; जिसका कवि चित्रण कर रहा है।

लोकधर्मी काव्य परम्परा सहज या स्वभाव पर आधारित थी। उसके समानान्तर एक काव्य परम्परा कविता में अतिशय या वक्रता के प्रति आग्रहशील थी। लोकधर्मी काव्य का ही प्रभाव है कि भामह आदि कविता में अत्यधिक अतिशयोक्ति या चमत्कार के अनावश्यक आधान का विरोध करते हैं। भामह के अतिशयोक्ति के अनावश्यक उपयोग को लोकविरुद्ध दोष माना है। उसका उदाहरण उन्होने यह दिया है-

तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदविन्दुभिः।
प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिनी।
धावता सैन्यवाहानां फेनवारि मुखाच्चयुतम्।
चकार जानुदघ्नापान् प्रतिदिङ्.मुखमध्वन:।।

(काव्यालङ्.कार, ४, ३७, ३८)

किसी युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है उस युद्ध में हाथियों की कनपटियों से बहते मदजल से ऐसी घोर नदी वह निकली कि उसमें हाथी, अश्व और रथ तिरने लगे। भागते हुए अश्व के मुख से ऐसा फैम छूटा कि आने जाने वाले लोग उसमें घुटने-घुटने तक डूब गये।

इसके साथ ही लोकधर्मी काव्य की जीवन्तता का एक कुप्रभाव या दुष्परिणति काव्य में उदात्त के हनन के रूप में हुई। देशज या भदेस के आग्रह के कारण सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए कुछ लोग कुछ तो भी भोंडा लिखने सुनाने लगे होंगे। आचार्यो ने ऐसे काव्याभासों को देश्य दोष या अशस्तार्थ दोष के अन्तर्गत समीक्षित किया है। इसके साथ ही उन्होंने देश्य दोष या ग्राम्य दोष के परिहार पर भी विचार किया है। अर्थात् वे ही शब्द या वे ही मुहावरे कहीं पर भद्दे लगते हैं, अन्यत्र वे ही कविता में चार चाँद लगा देते है।

अव्युत्पत्तिमान् या व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध देशज पदों के प्रयोग से देश्य

दोष मानते हुए भोज ने उसका यह उदाहरण दिया है-

गल्लौ लावण्यतल्लौ ते लहडौ मडहो भुजौ।
नेत्रौ वोसट्टकन्दोटट्मोट्टायितसखे सखि।।
(सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १२)

यहाँ लडह, मडह, गल्ल, वोसट्टकन्दोट्ट तथा मोट्टायित-ये देशज शब्द हैं, जिनका प्रयोग नायिका के रूप के वर्णन के लिये किया गया है। आचार्यों ने भाषा की प्रकृति या साधुता का हनन करने वाले देशज का विरोध किया है। पर वे मानते हैं कि देशज शब्दों, बोलियों की जानकारी कवि को होना चाहिये। बड़े रचनाकारों की कृतियों में अनेकत्र देशज या बोलियों के शब्दों का प्रयोग न हो कर गुण में परिणत हो गया है, इसके लिये भोज ने भवभूति जैसे कवियों के पाताल प्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्तसप्तार्णवम्- तथा 'किरन्तः कावेरीलडहलहरीशीकरकणान्'- आदि उदाहरण दिये हैं (वही, पृ० ९७) इसी प्रसंग में उन्होंने गाँव से आये किसी सीधे सादे देहाती और नगर के किसी व्यक्ति के बीच संवाद का निरूपण करने वाला एक पद्य भी उद्धृत किया है, जिसमें ग्रामीण के संवाद देशज भाषा या बोली में हैं और नागरिक के द्वारा उसके दिये गये उत्तर संस्कृत में। (वही, पृ० ११०)। इस प्रकार के पद्यो की रचना भोज के समय होती थी- यह इस विवेचन से जाना जा सकता है। मनोविनोद के लिये इस तरह के प्रहलिकाप्राय या हल्के फुल्के पद्य रसिकों की गोष्ठियों में सुनाये जाते होगें, और वे लोगों की जबान पर चढ़ भी जाते होंगे। आचार्यो या टीकाकारों ने इस तरह के पद्यों को यह बताने के लिये उद्धृत किया है कि वस्तु या भाव भी अप्रशस्य हों तथा उन को अप्रशस्य पदावली में ही व्यक्त किया जाये, तो कवित्व की क्षति होती है। भोज ने कहा है कि लोक में जिस पद या वस्तु की अभिव्यक्ति अप्रशस्य मानी गई हो, उसे व्यक्त करने से अशस्तार्थ ग्राम्य दोष होता है। इसके उदाहरण में उन्होंने यह पद्य प्रस्तुत किया है-

खेटके भक्तसूपस्य वल्लभ्याः पत्तनस्य च।
अतृप्तौऽहं मरिष्यामि हे हले भाषितस्य च।। (वही, पृ० १४)

यहाँ कवि कहता है कि गाँव के दाल-भात, वलभी नगर और हे हले यह स्त्रियों के मुख का सम्बोधन - ये तीनों न मिल पायें, तो मैं अतृप्त ही मर जाऊंगा। भोज ने यहाँ कवि के लोकानुराग या अपने देश के प्रति संसक्ति का विरोध नहीं किया है, बल्कि 'मर जाऊँगा'- इस तरह की अभिव्यक्ति का विरोध किया है, क्यों कि लोक में भी किसी के द्वारा ऐसा कहना अच्छा नहीं माना जाता। जनमानस के संस्कारों में जो मंगल भाव है, उसकी क्षति काव्यगत अभिव्यक्ति में नहीं की जानी चाहिये-यही भोज का यहाँ अभिप्राय है। इस प्रकार की और भी अनेक उक्तियाँ या मुक्तक उद्घृत कर के भोज ने इस प्रसंग में लोकभाषा, लोकवार्ता और लोकोक्तियों की काव्य में उपादेयता पर विचार किया है।

जिस समय योगेश्वर और उनके प्रस्थान के कवि जन सामान्य के जीवन पर उत्तम काव्य रच रहे थे, उस समय निम्न वर्ग के लोगों का उपहास करने वाले पद्यों की रचना भी रसिक नागरिकों के रंजन के लिये होती थी, और उनमें देशज भाषा के शब्दों का प्रयोग भी किया जाता था। पर ऐसे पद्यों को कविता नहीं कहा जाना चाहिये- यह भोज आदि का ग्राम्यक, देश्य जैसे दोषों से निरूपण में अभिप्राय है। माघ ने शिशुपाल-वध (५/७) में श्री कृष्ण की सवारी में चलती किसी दासी के गिरने का वर्णन किया है, जो गधे पर सवार थी, और गधे के उछाल मारने से धड़ाम से नीचे जा गिरी, और लोग उस पर हँस पड़े। महाकाव्य में इस तरह का वर्णन खप सकता है। टीकाकार वल्लभदेव ने इसी प्रसंग मं किसी लम्बकचा पृथुकुचा स्त्री के ऊँट से गिरने पर हुड़दंग करते लोगों का चित्रण करने वाला यह पद्य उद्‌घृत किया है-

कैश्चित् स्मैरमुखैर्निगृह्य वदनान्यन्तर्हसदिस्तथा
निर्यद्‌वाष्पमथापरैः कृतमहाशब्दोरुहासं जनैः।
दृष्टो लम्बकुचां पृथुकुचां पृष्ठात् क्षिपंस्तुन्दिलां
चुन्दीमुल्लसयाञ्चकारकलभस्त्रस्त श्चिरं टाकरः।।

(शिशुपालवध, श्री नगर सं०, पा०-१, पृ० १५६)

यहां चुन्दी और टाकर जैसे शब्द देशज हो सकते हैं, पर पूरे काव्य में कवि की दृष्टि मात्रा हँसी उड़ाने की है, तो इस कविता नहीं कहा जा सकता।

दूसरी ओर ऐसी कविता भी लोकप्रिय हो सकती है, जो लिखी तो समाज के निचले वर्ग के लोगों के बारे में लिखी गई हो और जिसकी अभिव्यक्ति प्रौढ़ परिष्कृत हो और तथा भाव गम्भीर और उदात्त हों। योगेश्वर जैसे कवियों में इस तरह की कविता की सम्भावना खुलती है। इन कवियों के पद्य वाचिक परम्परा में लोगों की जबान पर चढ़ गये होंगे,तथा बाद के कवि इनके किसी एक पद्य की तर्ज पर दूसरा पद्य अपनी ओर से रचें- यह भी हुआ। उदाहरण के लिये वागुर का पद्य (सुरको० ११८२) योगेश्वर के पद्यों में (१४९) में अनुवृत्त हुआ है-

क्वण्णद्‌वलयसन्ततिक्षणमुदञ्चिदौष्कददञ्चि
गलत्पटसमुन्मिषत्कुचतटीनखाङ्. कावली।
कराम्बुजवृतोल्लसन्मुशलमुन्नमन्ती मुहुः
प्रलम्बिमणिमालिनी कलमकण्डनी राजते।।

इसके साथ ही अभिजात काव्य धारा के परिष्कार, प्रौढ़ि और अभिव्यक्ति की उदात्तता से लोकधर्मी काव्यधारा भी प्रभावित हुई। महान कवियों की रचनाओं के अभिप्रायों का उपयोग लोक जीवन पर काव्य लिखने वाले कवियों ने किया। अन्योक्ति का अभिप्राय लोक जीवन से सम्बद्ध कविताओं में भी आया है। उदाहरण के लिये जहाँ

'बैल' शीर्षक के अन्तर्गत जो सुभाषित लिये गये हैं, उनमें देहात के वातावरण का चित्रण है, हल में जोते जाने वाले बैल का वर्णन है, पर साथ ही बैल का वर्णन अप्रस्तुतप्रशंसा या अन्यापदेश भी बन गया है। विशेष रूप से १३०वां पद्य किसी निठल्ले पर अनुरक्त नायिका की उक्ति के रूप में परिणत हो सकता है। इसी तरह १२५ वें पद्य में धौला बैल धवल चरित्र वाले सज्जन का प्रतीक है। पर इन पद्यों में खेतिहर बैल का चरित्र पूरे यथार्थ के साथ खरा उतरा है। प्राय: वाच्य अर्थ की प्रधानता इन पद्यों में बनी रही है।

लोक जीवन पर रची गई संस्कृत कविता ग्राम का वर्णन प्रस्तुत करती है, पर वह ग्राम्य दोष से मुक्त हैं निचले तबके को उसमें विषय बनाया गया है, पर अभिव्यक्ति में वह उदात्त है।

जिन कवियों के पद्य यहाँ संकलित हैं, उन्होंने राजसत्ता के प्रति विद्रोह किया हो ऐसा नहीं है। हो सकता है इनमें से कुछ कवि राजसभा में भी रहे हों। पर राजाश्रय पा कर भी उनकी कवि चेतना जन सामान्य से प्रतिबद्ध रही। बाण जैसे महान कवि भी कुछ समय के लिये राजसभा में रहे, पर राजसभा की सीमाओं को उन्होंने रचना में तोड़ा, और राजाश्रय से समझौता तो कदापि नहीं किया।

शब्दावली

लोकधर्मी काव्य परम्परा में शब्दों का एक ऐसा समृद्ध और विरल भण्डार हमें प्राप्त होता है, जो अभिजात कवियों के साहित्य में सुलभ नहीं है। इस काव्य परम्परा में खेत-खलिहान, सामान्य लोगों के घर-बार, गाँव-गिराँव आदि से जुड़ी पदावली प्रयुक्त हुइ है, तथा इससे जुड़े हुए संस्कृत कवियों ने लोक भाषाओं से भी शब्द उठाये हैं।

पुआल के लिये पलाल शब्द इस काव्य धारा में सुपरिचित है (८३, १७३, १९८, २२३)। सर्दी में तापने के लिये जलाई जाने वाली आग के लिये कई शब्द हैं। गोबर के कंडों से जलने वाली आग को कुकूल कहा गया है। गोबर के कंडों में भूसा मिला कर जो आग अलाव मे जलाई जाती है उसे कारीषाग्नि या कारीष वह्नि कहा गया है (१८३, २२६)। और मँजी पदावली का प्रयोग करने वाले एक कवि ने इसी की 'करीषतनूनपात्' कहा है (द्र०-ऊपर उद्‌धृत श्लोक -अभिनववधूरोषस्वादुः-)। सीधे-सीधे गोमयाग्नि भी इसका नाम प्रयुक्त है (१५१)। अनेक पद्यों में इसके लिये बढ़िया मुहावरेदार शब्द मिलता है- पुण्याग्नि (१८५, १९७, २२९)। पुण्याग्नि है तो तापने के लिये अलाव में जलाई जाने वाली आग, पर वह सर्दी से बचाने का पुण्य कार्य करती है, इसलिये पुण्याग्नि हो गई। जिस घर में अलाव जल रहा हो, उसे पुण्याग्निगेह कहा गया है (३२७)।

योगेश्वर की कविता में गृहिणियाँ कर्पर अथात चिथड़े से घर में पोंछा लगाती हैं, और शूर्प नहीं बल्कि शूर्पशकल (सूपे का टुकड़ा) बारिश से बचने के लिये माथे पर रख लेती हैं (९१)। चूल्हे के पास का घेरा, जिसमें बैठ कर भोजन किया जा सके, चुल्लीसीमा कहा गया है। गाँव का मुखिया चुल्लीसीमा में विराज का गोरस या घी से तर भोजन करता है (११६)। दूसरी ओर गरीब गृहस्थ और उनकी घरवालियाँ हैं। गरीब गृहस्थ के लिये दुर्गत और दुःस्थ शब्द यहाँ सुप्रचलित लगते हैं (२५४), जब कि उसकी घरवाली के लिये दुःस्थगृहिणी, दुःस्थकुटुम्बिनी जैसे शब्द भी जाने पहचाने हैं (७८, ९१)।

गाँव की सीमा (सिवान) के लिये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। योगेश्वर ने इसे 'परिसर' कहा है, एक अन्य कवि ने 'ग्रामोपकण्ठं। गाँव की एक छोटी बस्ती पल्ली है (८३), गली में कर्पट या चिथड़े पहने भीख माँगते लोग रथ्याकार्पटिक है। (२६६)। खेत खलियान से जुड़ी शब्दावली में हल की ईंस हलीष या हलेषा है (१३६, १७०) बाड़ी के लिये वाट, अनाज के लिये ब्रीहि, कुलेथ की भाजी के लिये कुलुत्थ (१६५), सरसों के लिये सर्षप तथा सिद्धार्थ (१५३,२२९), किसान के लिये वप्ता(११५) शब्द आये हैं। धनिये को कुस्तुम्बरी कहा गया है (१६४)। वार्ताकु बैंगन है (८९)। अमरकोश (२,४,११४) में इसे वार्ताकी भी कहा गया है। अमरकोश की रामाश्रमी टीका में वातिड्.गणस्तु वाताड्.गो वार्ताकः शाकबिल्वकः- यह त्रिकाण्डशेष उद्धृत है। वातिड्.गण से बइंगण प्राकृत में होता हुआ आधुनिक भाषाओं में बैंगन हो गया है। उक्त पद्य में आरनाल अमरकोश के अनुसार (२,९,३९) कांजी है। यहीं पर पिठर या पिठरी बटलौह या बठलोई या कुंड है (अमरकोश २,९,३१)। गगरी कर्करी है (१०९)।

चीभड़ी के लिये चिर्भटक शब्द भी मिलता है और वेद के महामृत्युजंय सूक्त में इसके लिये उर्वारुक शब्द आया है। अभिजात काव्य धारा में ये दोनों शब्द देखने को नहीं मिलते। लोकधर्मी परम्परा के कवि ने पके-उर्वारुक की तीखी गन्ध का उल्लेख किया है (१५९)।

अनेक शब्द उस अंचल विशेष के हो सकते हैं, जहाँ का कवि है। केशट का सम्बन्ध मरुभूमि से प्रतीत होता है। उनके काव्य में गृहणी पालतू ऊँट को पीलु, शमी और करीर की पत्तियों के कौर खिलाती है (९२)। गौओं और बैलों के आहार के सन्दर्भ खरिद्रा और खल का उल्लेख किया गया है(१२४)। घर के बाहर दुर्गत या दुःस्थ लोग आड़े वक्त में भोजन के लिये जो बेलें लगाते हैं, उनमें तुम्बी (लौकी) और कूष्मांडी (कद्दू) की बेलें उल्लिखित हैं (१०६)। खेत में पैदा किये जाने वाले मोटे अनाजों में कोद्रव (कोदों) का उल्लेख योगेश्वर ने किया है। (१६१)। माघ ने शिशुपालवध में (१२,२४) लंघी शब्द का प्रयोग किया है। माघ का सम्बन्ध राजस्थान से है। उनके टीकाकार वल्लभदेव ने दो ऊँटों से जुती गाड़ी को लंघी बताया है। संस्कृत के कोशग्रन्थों में लंघी शब्द नहीं मिलता। यह भी देशज शब्द है।

मध्यमवर्गीय या निम्नवर्गीय जनों के घर में आ घुसने वाले अनेक कीटों, पशुओं का जिक्र इस कविता में आया है, और इनके लिये जो शब्द कवियों ने प्रयुक्त किये हैं, वे अभिजात कविता के दायरे से बाहर ही हैं। मुसली (छिपकली ७७), चर्मचर (चमगादढ ७६) गंडू (केंचुआ, ७३), शम्बू (घोंघा, १००), आदि इस तरह के शब्द हैं। खेती के लिये हल में जोते जाने वाले बैलों में सबसे अच्छी श्रेणी का बैल धवल (धौला) बैल है, जिसका कई पद्यों में बड़ी सराहना के साथ वर्णन मिलता है (१३०-३१,१३४)। योगेश्वर ने वनगिरि में मिलने वाले शल्लक का उल्लेख किया है (१६२),जो एक विशेष जाति का हिरन है। गांव के कीचड़ भरे तालाब में घुसने वाले सूअरों (पोत्री) तथा सिवार के बीच धंसे भैसों का भी वर्णन इसी पद्य में योगेश्वर करते हैं। बाण ने वनग्राम का बड़ा विशद चित्र अंकित किया है (दृष्टव्य ऊपर), तो इस कविता में गिगिग्राम या पहाड़ी गाँव का चित्र मिलता है (१९५)। योगेश्वर जैसे कवि तो वनग्रामो या गिरिग्रामों में भटकते हुए पहुंचते ही है वे पुण्याग्निगेहो, सत्रागारों या स्तोमसत्रो में खा पी कर या सो कर रात काटते हैं (३२७)। ये आजकल की सरायों या धर्मशालाओं जैसी जगहें हैं।

विभिन्न उपजातियों या कामगार-वर्गो के लिये इस कविता में उस समय के प्रचलित नाम आये हैं, इनमें दो नाम विशेष विचारणीय हैं- पामर और कीकट। पामर शब्द इस कविता में खेत-खलिहान के वर्णनों के साथ बार-बार आता है (१६७,२२३) अमरकोश (२,१०,१६) के अनुसार पामर के अर्थ हैं- विवर्ण, नीच, प्राकृत, पृथग्जन, हीन, अपसद, जाल्म तथा क्षुल्लक। मजदूर के लिये अमरसिंह ने भृतक, भृतिक तथा कर्मकर और ये वैतनिक चार नाम बताये हैं। वैजयन्तीकोश (३, ५, ४०) में धीवर से तीवरी, यवन से पौंड्र और बर्बर, पुल्कस से पामर तथा डोम्ब से वराणक जनजातियों की उत्पत्ति बताई गई है। इसी कोश में बर्बर और नीच के अर्थ में पामर शब्द निरूपित है (५,४,२२)। पसद तथा अश भी इसके अर्थ कहे गये हैं (७,४,२०)। हलायुद्ध ने पामर का अर्थ दीन तथा असहाय भी किया है, तथा समर्थन में राजतरंगिणी (१,३६८) का यह श्लोक उद्‌घृत किया है-

दूरात् पामरफूतकृतैः श्रुतिपथप्राप्तैः प्रबुद्धस्त्वभूद्
घृष्टो निर्भरवारिमिः सहमनाः श्वभ्रे निमज्जन्निव।।

हलायुध ने ही इतर, पामर, प्राकृत, पृथग्जन तथा बर्बर को तुल्यार्थ कहा है। कुल मिला कर पामर वर्ण व्यवस्था के भी बाहर का एकदम गया बीता आदमी है। डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं- पामर के चित्रण में योगेश्वर की विशेषता यह है कि उसकी दीनदशा के बावजूद उसके नीच होने का तनिक भी आभास नहीं होता योगेश्वर की कविता में पामर शब्द का प्रयोग कुछ-कुछ हलवाहे, खेत-मजदूर अथवा किसान के अर्थ में हुआ है (आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, १९८७)। वास्तव में तो लोकधर्मी कविता में जहाँ जह पामर आया है, वह खेत में दिहाड़ी पर काम करने वाला मजदूर है। हालिक

या हलवाहा उससे मालिक की तरह बर्ताव करता है। पामर की असहायता और हालिक की अपेक्षाकृत सम्पन्न स्थिति का चित्रण यहां कई पद्यों में हुआ है।

कोशग्रन्थों में पामर का ठीक-ठीक वह अर्थ नहीं मिलता, जिस अर्थ में कविता में यहाँ पामर प्रयुक्त है, तो कीकट की सही व्याख्या तो प्राचीन कोश में और भी अलभ्य है। आप्टे के कोश में कीकट नहीं है, कीकट शब्द अवश्य आया है, जिसका अर्थ कंजूस या गरीब दिया गया है। संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ ने कीकट ही पाठ मान कर इसका अर्थ गरीब, विचारा या दीन किया है। प्रस्तुत पुस्तक के पहले संस्करण पर आलोचना (अक्टूबर-सितम्बर १९८७) में लिखी अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में नामवरसिंह ने योगेश्वर की कविता में आये कीकट-दारक शब्द पर विचार करते हुए लिखा है-कीकट भी पामर के ही समान खेत पर काम करने वाली जाति है, जिसे सामान्यतः नीची जाति का समझा जाता था। (आलोचना, पृ० ६)। यह सम्भव है कि आज के यादवों या अहीरों की तरह बाद के समय में कीकट जाति के लोग भी खेती या कारोबार के द्वारा सम्पन्न हो कर गाँव में अपनी हैसियत रखने लगे गये हों। नीलकण्ठ दीक्षित ने शान्तिविलास में कीकट को सम्भवतः गांव का रईस या जमींदार मान कर लिखा है-

पादौ में स्तः परमचतुरौ कीकटानेव गन्तुम्।

अथवा, पामर की ही तरह सम्भव है, कीकट शब्द भी रूढा लक्षणा से केवल नीच के अर्थ में ही प्रचलित हो गया हो। हिन्दी में प्रचलित चीकट शब्द इसके काफी निकट हैं पर पामर और कीकट आदिम जातियों के ही लोग हैं, जो गाँव में खेत पर मजदूरी या इस तरह के काम धन्धे कर के पेट पालते थे। पामर की स्त्री पामरी है (१८१)।

योगेश्वर ने (१७६) शबर युवतियों के साथ बैल के कुप्पों में हाला पीते बर्बरो का वर्णन किया है। शबर और बर्बर भी दो अलग जनजातियाँ हैं, या शबरो का ही एक नाम बर्बर भी है। पामर और कीकट की तरह बर्बर शब्द भी अभिजात कविता में जातिवाचक न रह कर गुणवाचक हो गया है।

नये मुहावरे और अभिव्यक्तियां

लोकधर्मी संस्कृत कविता की परम्परा ने भाषा और अभिव्यक्ति के नये द्वार खोले। इस परम्परा से जुड़े कवियों का जीवनानुभव अभिजात कवियों से अलग था, वे जीवन के सहज प्रवाह के अधिक निकट भी थे, अतः उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में तदनुरूप ताजगी और सहजता है। शुभांक ने अपने एक पद्य में (१६९) पामर मिथुन या खेत में काम करने वाले मजदूरों के जोड़े के प्रेम का वर्णन किया है। चैत की रातों में मजदूर और उसकी प्रिया खेत में एक दूसरे के पास सोये, चुम्बन के लिये परस्पर

सटते हैं, तो प्याज की सुवास से सनी उनकी साँसे एक दूसरे की साँस से टकराती हैं। शुभांक ने इसके लिये एक बढ़िया क्रिया विशेषण गढ़ा है-कवलितपलाण्डुपरिमल संविलदन्योन्यनि:श्वासम्- जिसमें परिमल शब्द का प्रयोग अवधेय है। प्याज का गन्ध इस धारा के कवि के लिये दुर्गन्ध या बदबू नहीं, परिमल है। क्योंकि वह गरीब के भोजन का एक बड़ा आधार है।

एक अज्ञात कवि ने वर्षा की बूँदों का वर्णन किया है (२०५) - भग्नावासरुदद्दरिद्रगृहिणीश्वासानिलैर्जजरा:- टूट चुकी कुटिया वाली रो रही दरिद्र, गृहिणी के द्वारा छोड़ी गई साँसों ने वे वारिश की बूँदें जर्जर हो गई हैं। इसी अभिव्यक्ति का व्युत्क्रम ककरते हुए राजशेखर ने अपने मलयानिल वर्णन में कहा है कि मलय की हवाएँ विरहिणियों के नि:श्वास से तरुण और घनी बन गई हैं। दोनों वर्णनों में अभिव्यक्ति और दृष्टि का तात्त्विक अन्तर है। अपनी नि:श्वासों ने वर्षा को जर्जर कर देने वाली दरिद्र गृहिणी के प्रति कवि का लगाव मनुष्यता में उसकी आस्था को सूचित करता है।

जीवन के पर्यवेक्षण और मनुष्यता के प्रति इस आस्था के कारण इन कवियों की पदावली में नवीनता स्वत: आ गई है। एक और अज्ञात कवि ने (१०५) सर्दी में धूप के टुकड़े से चमकती भीत को पाने के लिये गाँव के लड़कों की हाथापाई का वर्णन किया है- 'सूर्यस्फुरत्करकरम्बितभित्तिदेशलाभाय शीतसमये कलिमाचरन्ति' सूरज करो (किरणो) से करम्बितभित्तिदेश- यह निराली अभिव्यक्ति है।

सौन्दर्य बोध की भिन्नता भी इन कवियों को अभिजात धारा के कवियों से अलग पहचान देती है। योगेश्वर को नदी का कीचड़ से भरा और सूँड उठा कर बिलबिलाते केंचुओं से रेखांकित किनारा सुन्दर ही नहीं लगता, वह चित्त को कुरेदता लगता है- (हृल्लेखं जनयन्ति.....तटीभूमय:- २१३)।

लोकधर्मी परम्परा के संस्कृत कवियों की कविता विपन्न लोगों के जीवन को संघर्षो को चित्रित करती है, पर भाषा और अभिव्यक्ति में कविता विपन्न नहीं है। अपनी काव्यात्मक उपलब्धियों के द्वारा योगेश्वर जैसे कवि तो निश्चय ही संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की अगली पाँत में बिठाने के योग्य हैं।

लघु परम्पराएं

योगेश्वर ने एक पद्य (१७६) में बर्बरों के द्वारा गुफा में किसी शिला पर बनी देवी कान्ता दुर्गा की पूजा करके, क्षेत्रपाल को रुधिर चढ़ाने का वर्णन किया है। बर्बर एक वन्य जाति है। क्षेत्रपाल खेत का अधिष्ठाता देवता है। ऋग्वेद में इसी को क्षेत्रपति कहा गया है। ऋग्वेद में जिस क्षेत्रपति (इस पुस्तक में शीर्षक-३) की वन्दना की गई

है, उसकी परम्परा आदिम जातियों के लोकाचारों ये आई है। पुराणों में भी क्षेत्रपाल या क्षेत्रपति देवता का वर्णन मिलता है। इसकी मूर्तियाँ बनाने का निर्देश है। योगेश्वर ने जनजीवन से जुड़ी इस परम्परा का ही चित्रण किया है।

सुरको० में उद्धृत एक अन्य पद्य में, जो अधूरा प्राप्त है (प्रस्तुत पुस्तक में असंगृहीत) घने वन का वर्णन है, जिसमें कहीं वृद्ध वनेचारियों द्वारा पूजा के लिये पंचागुल (हथेली की छाप) अंकित की गई है, तो (किसी गुफा के द्वार या मंदिर के द्वार) द्वार पर बलि पशु बनाये गये पुरुषों की हड्डियो का ढेर है-

अस्मिन् वृद्धवनेचरी करतलैर्दत्ताः सपञ्चाङ्.गुला
--- --- ---शिखरिभिः शृङ्.गैः करालोदराः।।
द्वारोपान्तपशुकृतार्प्यपुरुषक्षुब्धास्थिकिमीरिता-
श्चित्तोत्कम्पमिवानयन्ति गहनाः कान्तार-----।।
(सुरको०, ११९०)

इस तरह की कविताएँ अभिजात या महान् परम्पराओं के बरक्स देशज परम्पराओं का साक्ष्य देती हैं। अनेक लोक विश्वासी और लोकाचारों का चित्रण भी इनमें हुआ है।

अनुवादों के सम्बन्ध में

प्रस्तुत अनुवाद प्रायः शाब्दिक न हो कर मूल के भाव को अविकल रूप में प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत के सारे मूल सुभाषित जो यहाँ लिये गये हैं, विविध पारम्परिक छन्दों में निबद्ध हैं। उनकी लय और छान्दस सम्पदा को अनुवाद में उतारना असम्भव ही था। इसी तरह कुछ पद्यों में श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकार हैं, जिनका निर्वाह अनुवाद में सम्भव नहीं हो सकता था। उदाहरण के लिये 'धूमेन रिक्तमपि०-(७५) में विरोधाभास का प्रयोग दारिद्रच के अनुभव को तीखा बनाने के लिये किया गया है। इसमें 'भूषितबन्धुवर्गम्-' के दो अर्थ हैं- जिसमें बन्धुजन भूषित हों, ऐसा घर तथा जिसमें बन्धु जन 'भू-उषित' या खाली धरती पर बैठते हों, लेटते हों-ऐसा घर। इसका अनुवाद' पर हम बन्धुजनों का गहना यह धरती तो है ही- के द्वारा किया गया है। अनुवाद में श्लेष तो निकल गया है, पर श्लेष से निकलने वाले' दोनों अर्थों के विरोध की संगति कवि को जिस अभिप्राय के द्वारा अभिप्रेत है, वह अनुवाद में आ गया है। इसी तरह ७६ वें पद्य में 'खुरली' का अर्थ छुआछुई कर दिया गया है, क्यों कि हिन्दी में इसके लिये सही शब्द अन्य न था। इसी पद्य में श्रीमत्सेनकुलावतंस- जो किसी विशेष राजा के लिये सम्बोधन है। उसका अनुवाद केवल 'राजन्' ही रहने दिया गया है।

पुस्तक के प्रथम संस्करण के अनुवादों से इस संस्करण में कुछ फेरबदल किये

गये हैं। १०२वें पद्य में 'नेच्छेद् दरिद्रगृहिणी रजनीविरामम्'- का अनुवाद

सोना नहीं चाहती है ग़रीब की घरवाली
दिन भर की थकी, खटती रहेगी रात भर

यह प्रथम सं० में किया गया था, जिसे बदल कर-

ग़रीब की घरवाली
चाहती है यही
कि ठहरी रह जाये रात

यह कर दिया गया है। मूल की पंक्ति से प्रथम सं० वाला अर्थ भी निकलता है, पर विचार करने पर 'रजनीविरामम्' का अर्थ रजनी (रात) का विराम- यह मानना अधिक उचित लगा। इंगाल्स ने इस का अनुवाद का यह किया है- 'टैक्स नो ज्वाय इन दि इवनिंग्स रेस्ट फ्राम वर्क।' पर कोशग्रन्थों के अनुसार भी विराम का मुख्यार्थ विश्राम या विनोद नहीं है, अन्त या अवसान अथवा रुकना विराम का मुख्य अर्थ है।

कवियों का परिचय

इस पुस्तक में जिन कवियों के मुक्तक संकलित तथा अनूदित किये गये हैं, उसका रचना काल चौथी-पाँचवी शताब्दी ई० से लगा कर अठारहवी शताब्दी तक विस्तीर्ण है। इनमें से अनेक का तो नाम भी ज्ञात नहीं है। यहाँ ५५ श्लोक अज्ञात कवियों के संकलित हैं।[१] अनेक कवियों की नाम की वर्तनी अलग-अलग मिलती है। केशट या केशर, डिम्बोक या हिंगोक या बिम्बोक, सोनोक, सोह्नोक, सोल्लोक- इस तरह के विकल्प नामों की वर्तनी के बारे में मिलते हैं। अधिकांश कवियों का प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं है। उनके रचना काल के विषय में अनुमान काल से सुभाषित संग्रह में वे सबसे पहले उद्धृत हुए हैं-इसके आधार पर ही लगाया जा सकता है।

यहाँ जितने कवि पुस्तक में संकलित हैं, उनका उपलब्ध परिचय दिया जा रहा है। शूद्रक बिल्हण, नीलकण्ठ दीक्षित जैसे कवियों के विषय में जानकारी अन्यत्र विस्तार से सुलभ है, अतः इनका परिचय संक्षेप में दिया गया है। कई कवि ऐसे भी हैं, जिनकी चर्चा अब तक के संस्कृत साहित्य के इतिहास के ग्रन्थों में प्रायः नहीं आई है, जब तक कि अपनी कविता के द्वारा वे श्रेष्ठ कवि के रूप में उभरते हैं। ऐसे कवियों का परिचय यथासम्भव विस्तार से दिया गया है।

१- इस पुस्तक में अज्ञातकर्तृक पद्यों की संख्या इस प्रकार है- १९२, १९४, १९५, १९६, १९८, २०१, २०२, २०५, २०६, २१२, २१५, २१८, २२१, २२२, २४०, २४२, २४४, २४५, २४७, २४९, २५१, २५४, २५६, २६२, २६३, २६७, २७०, २७४-२७८, २८३, २८४, २८६, २९७, ३०४-१३, ३१७-१९, ३२६।

लोक जीवन पर कविता लिखने वाले कवियों की पूरी परम्परा में योगेश्वर एक प्रतिनिधि कवि के रूप में सामने आते हैं। वस्तुतः योगेश्वर का काव्य इस परम्परा का शिखर है।

प्रत्येक कवि के परिचय के अन्त में कोष्ठक में इस पुस्तक में संकलित उस कवि के श्लोकों का क्रमांक दिया गया है।

अचल : अचल का अचलदास या अचलसिंह भी नाम मिलता है। कोसाम्बी के अनुसार ये बौद्ध थे। सुरको० में ८ पद्य अचल के नाम से उद्धृत मिलते हैं तथा ५ पद्य ऐसे हैं जो सुरको० ने अज्ञातकर्तृक बताये हैं, पर अन्यत्र वे अचल के नाम से उल्लिखित है। सकमृ० में चार पद्य इनके मिलते हैं। सूमु० में भी इन्हें उद्धृत किया गया है। सूमु० में अचल के लिये यह प्रशस्ति भी मिलती है-

कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयश्यचापलमात्रं पदं दधति।। (सूमु० ४,९८)

अभिनन्द : अभिनन्द नवीं शताब्दी में पाल राजाओं के सभा कवि रहे। इन्होने रामचरित नामक महाकाव्य भी लिखा। इनके पिता का नाम शतानन्द था। अभिनन्द नाम से ही कश्मीर में भी एक और कवि हुए, जिनके पिता जयन्त थे। तथा जिन्होने कादम्बरी कथासार नामक पद्य काव्य लिखा था। रामचरितकार अभिनन्द ने अपना परिचय देते हुए अपने को विक्रमशील राजा के पुत्र हारवर्ष युवराज का आश्रित बताया है। रामचरित के सम्पादक के अनुसार हारवर्ष युवराजदेव वास्तव में पालवंशी राजा देवपाल था। तदनुसार अभिनन्द का समंय ८५० ई० के आसपास का कूता जा सकता है। अन्य अभिनन्द् से पार्थक्य के लिये इन्हें गौड़ अभिनन्द भी कहा जाता है।

अभिनन्द के पद्य भोज, महिमभट्ट तथा मम्मट जैसे आचार्यो ने उद्घृत किये हैं। 'उदयसुन्दरीकथा' में सोड्ढल ने इनकी प्रशंसा की है। अभिनन्द ने अपने मुक्तकों में ऋतुचक्र के विवर्तन के साथ बदलते परिवेश का सूक्ष्म चित्र अंकित किया है, और उसके लिये अनुपम लाक्षणिक और नवीन पदावली गढ़ी है। वसन्त में बावडियाँ उन्हें दन्तुरित उदर वाली दिखती हैं, और बैल गाड़ी की गैल पर पवन धूल को उड़ना सिखाता हुआ लगता है (सुर० १७३)। वर्षा की रातें मूसलाधार पानी से मतवाले हुए झींगुरों की झंकार से गूँजती प्रतीत होती है (वही, २५२)। अनेक सुभाषितों में अभिनन्द ने बंगाल के खेतों और गांव की गलियों में धूल भरे रास्ते पर चलती बैल गाड़ियों के दृश्यों का तन्मय हो कर चित्रण किया है। (द्र० इस पुस्तक में-क्र०-२१९) प्रकृति वर्णनों में उनकी दृष्टि गाँव-गिराव से से ताल्लुक रखने वाले संवेदनशील कवि की है। बेर के फल के गदराने और पकने में बदलते रंगों की छटा का चित्रण अभिनन्द ने किया है (इस पुस्तक में पद्य सं० २२७)। अभिनन्द ने ग्राम जीवन या मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग के

अपने अनुभवों के कारण संस्कृत कविता में नये बिम्बों और उपमानों की सृष्टि की है। चन्द्रमा उन्हें सताई हुई स्त्री के जैसा दीन लगता है, सूरज की धूप दरिद्र स्वामी की आज्ञा की तरह निष्प्रभ मालूम पड़ती है और गोबर के कंडों की आग दुल्हन के रिसाने की तरह स्वाद की लगती है (ऊपर उद्धृत पद्य-अमिनव-वधू०-इत्यादि)।

अभिनन्द ने शृंगारपरक मुक्तक भी रचे हैं, और उनके कतिपय मुक्तक राजस्तुतिपरक भी हैं। सुर० (१४७२) में उद्धृत निम्नलिखित पद्य में अभिनन्द दुर्घट श्लेष के प्रयोग के साथ अपने जीवन चक्र की व्यर्थता या विफलता का अनुताप प्रकट करते लगते हैं-

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वविगता।।

मैं जनस्थान (दंडकारण्य का एक भाग, लोगों की भीड़ से भरे स्थान) में सुवर्ण मृग (सोने के मृग) की तृष्णा के अन्धी बुद्धि वाला बन कर भटकता रहा; वैदेहि - (अवश्य दे दीजिये, सीता, सीता) - इस तरह का वचन आँखें में आँसू भर कर कहता रहा; निकृष्ट धनी के मुख पर आँखें लगाये रहा या लंकापति के मुख की पाँत पर बाण छोड़े- इस तरह मैं राम हो गया, पर कुशलववसुता (कुशलता के साथ वसु या धन की प्राप्ति, कुश और लव की माँ अर्थात सीता) मुझे नहीं मिली।

मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में इस श्लोक को ध्वनिकाव्य के उदाहरण में उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि अभिनन्द को आचार्य परम्परा में कवि के रूप में एक दो शताब्दियों के भीतर ही बड़ा सम्मान प्राप्त हो चुका था। इस श्लोक से यह भी लगता है कि अभिनन्द राजसभा में रह कर भी उससे बाद में विरक्त हो गये थे। वस्तुतः अभिनन्द योगेश्वर की परम्परा के कवि हैं। (आगे योगेश्वर का परिचय देखें)। उनके द्वारा रची हुई योगेश्वर की यह प्रशस्ति मिलती है-

तातः सृष्टिमपूर्ववस्तुविषयामेकोत्रान्निर्व्यूढवा
निष्णातः कविकुञ्जरेन्द्रचरिते मार्गे गिरां वागुरः।
रेवा विन्ध्यपुलीन्द्रपामरवधूमूगोलझञ्झानिल-
प्रायेऽर्थे वचनानि पल्लवयितुं जानाति योगेश्वरः।।

(सुरको०, १६९९)

सदुक्तिकर्णामृत में यह श्लोक भवानन्द के नाम से उद्धृत है, तथा पहली पंक्ति में तातः के स्थान पर 'बाणः' और तीसरी पंक्ति में 'रेवा' के स्थान पर 'विधा' पाठ है।

इस श्लोक में अभिनन्द या भवानन्द ने तात (बाण) के काव्य की अपूर्वता और वागुर की कविता की श्रेष्ठता की सराहना करते हुए कहा है कि नर्मदा और विन्ध्य की भूमि में रहने वाले पुलिन्दों और पामरों की घरवालियों के जीवन में बहते अन्धड़ के लिये उसी के जैसी पदावली का प्रयोग करना योगेश्वर ही जानते हैं। सुरको० (१७३३) में एक और श्लोक, जो योगेश्वर के नाम से उद्धृत है, सकमृ० में अभिनन्द के द्वारा रचित बता कर उद्धृत किया गया है। उसमें योगेश्वर या अभिनन्द ने बाण, भवभूति, कमलायुध, केशट तथा वाक्पतिराज के काव्य की प्रशंसा की है।

भवानन्द अभिनन्द का ही अन्य नाम हो सकता है और अभिनन्द तथा योगेश्वर लोक जीवन पर काव्य लिखने वाले दो बड़े कवि है, जिनकी कविता में विषय वस्तु की समानता और जीवनकाल में भी निकटता होने के कारण इनके कुछ श्लोकों में एक की रचना दूसरे के नाम से मान ली गई-यह भी सम्भव है।

(१९९, २१९, २२६, २२७)

अमरसिंह : अमरसिंह संस्कृत के सर्वाधिक प्रख्यात कोश अमरकोश के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध हैं। किंवदन्ती के अनुसार कोशकार अमरसिंह विक्रमादित्य की राजसभा में नवरत्नों में एक थे। आधुनिक विद्वान् इनका समय नवीं शताब्दी के आस पास मानते हैं। कोसाम्बी के अनुसार कोशकार अमरसिंह से कवि अमरसिंह भिन्न हैं।

कवि अमरसिंह ने अपनी काव्यात्मक उपलब्धियों से साहित्यकार में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है। ऊपर कवि अचल के लिये सूमु० में प्राप्त एक प्रशस्ति उद्धृत है, उसमें भी कवि अमर का उल्लेख है। सातवीं शताब्दी के कवि शालिक या शालिकनाथ ने अमरसिंह की प्रशंसा करते हुए कहा है कि प्रयोग की व्युत्पत्ति, प्रत्येक पद से विशिष्ट अर्थ का बोध कराना, गम्भीरता, रसमय वाक्यार्थ की रचना तथा अन्य कवियों के द्वारा वागर्थ की परिणति की अगम्य दिशाओं में अमरसिंह असाधारण है-

प्रयोगव्युत्पत्तौ प्रतिपदविशेषार्थकथने
प्रसत्तौ गाम्भीर्ये रसवति च वाक्यार्थघटने।
अगम्यायामन्यैर्दिशि परिणतेश्चार्थवचसो
मतं चेदस्माकं कविरमरसिंहो विजयते।। (सुरको०, १७२४)

(२५२)

उपाध्याय दामर : सुरको० में एक पद्य उपाध्याय दामर का मिलता है। अन्य कोई जानकारी इनके विषय में प्राप्त नहीं होती। (१७५)

कमलायुध : कमलायुध का उल्लेख अभिनन्द या योगेश्वर की एक कविप्रशस्ति में आया है। वाक्पतिराज ने अपने गौडबहो महाकाव्य में कमलायुध का अपने गुरु के रूप

में स्मरण किया है। कमलायुध सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए - ऐसा इन उल्लेखों से सिद्ध होता है। ऊपर वामन द्वारा काव्यालंकारसूत्रावृत्ति में उद्‌धृत निम्नलिखित श्लोक का हवाला दिया गया है-

करकवलितमृष्टैः शाखिशाखाग्रपत्रै-
ररुणसरणयोऽमी भीषयन्तेऽग्रकुञ्जैः।
चलित शबरसेनादत्तगोशृङ्‌गचण्ड
ध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः।।

सुरको० (१५८७) में यह पद्य कमलायुध के नाम से उद्‌धृत है। सूक्तिमुक्तावली में यही पथ कमलाकर के नाम से मिलता है, अतः कमलायुध का कमलाकर नाम भी प्रचलित रहा होगा- यह सम्भव है।

केशट : अभिनन्द या योगेश्वर के नाम से उद्‌धृत जिस प्रशस्ति की चर्चा ऊपर की गई है, उसमें केशट का भी उल्लेख है। अतः बाण और भवभूति के साथ केशट और कमलायुध को अभिनन्द या योगेश्वर अपने आदर्श कवियों में मानते हैं। सकमृ० में केशट को केशटाचार्य भी कहा गया है। सम्भवतः केशर या केशव नाम भी इन्हीं के लिये प्रचलन में रहे है। सकमृ० में केशट के १९ तथा केशर के दो पद्य उद्‌धृत हैं। सुरको० में केशट के रचे सात पद्य मिलते हैं। इनमें से एक पद्य में (प्रस्तुत पुस्तक में संख्या-९८) में केशट ने मरुस्थल पार करके ऊँट पर सवार हो कर घर लौटे पति के आने पर विरहिणी पत्नी की चेष्टाओं का सूक्ष्म चित्र खींचा है। इससे राजस्थान या गुजरात के आस-पास के प्रदेश से उनका सम्बन्ध अनुमित होता है। केशट के पद्यों में विष्णु के अवतारों की स्तुति तथा समुद्र और जल तथा मृग को ले कर रची अन्योक्तियाँ मार्मिक हैं। सकमृ० ने निम्नलिखित सुप्रसिद्ध सुभाषित भी केशट कृम बताया है-

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदा रचरितानांतुवसुधैव कुटुम्बकम्।।

कल्हण : कल्हण संस्कृत के महाकवियों में अग्रगण्य हैं। इन्होंने कश्मीर के राजा जयसिंह (११२९-११४९ ई०) के शासन काल में प्रख्यात ऐतिहासिक महाकाव्य राजतरङ्‌गणी की रचना की। राजतरङ्‌गणी में विराट् फलक पर देश के ऐतिह्य को अत्यंत संवेदनशील दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया गया है। कल्हण की सहानुभूति आम जनता के साथ रही है। उन्होंने अकाल, भुखमरी और अत्याचारी राजाओं के द्वारा जनता के त्रास का हृदयद्रावक यथार्थ चित्राण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संकलित दो पद्यों (२२८, २८५) से कल्हण की काव्य शैली और कवि दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। (२२८, २८५)

किशोरक : किशोरक का पूरा नाम दिविर किशोरक है। दिविर उपाधि कायस्थों

के लिये प्रयुक्त होती थी, जो राजा के यहाँ लिखा-पढ़ी (मुंशीगिरी) का काम करते थे। इनके विषय में अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। एक पद्य में इन्होंने (प्रस्तुत पुस्तक में सं० ८१) साँप के घर में घुस आने पर परिवार के जनों के त्रास और हड़बड़ी का चित्राण किया है। एक अन्य पद्य में (यहाँ सु० २४४) इन्होंने राजसेवा की विडम्बना का चित्रण किया है। ये दोनों पद्य वल्लभदेव की सुभाषितावली से हैं, अतः किशोरक का समय १४वी शताब्दी के आसपास या उसके पहले हो सकता है। (२४४)

कृष्ण मिश्र : कृष्ण मिश्र प्रबोधचन्द्रोदय नामक वेदान्तपरक प्रतीक नाटक के रचयिता हैं। कृष्णमिश्र चन्देल राजा वर्मा की सभा कवि तथा गुरु थे । इनका समय ११वीं शताब्दी है। प्रबोधचन्द्रोदय में इन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले पाखंड का भी बेबाक चित्र खींचा है। राजसभा से जुड़े होने पर भी ये राजप्रशस्ति और ऐश्वर्य के प्रति उदासीन रहे। इनका प्रबोधचन्द्रोदय नाटक प्रतीक पात्रों (मोह, विवेक, भक्ति आदि) को नायक-प्रतिनायक आदि के रूप में रोचक ढंग से चित्रित करता है। इसके अनेक अनुवाद प्राचीन काल से अब तक होते रहे हैं। सकमृ० में कृष्ण मिश्र के दो पद्य उद्धृत हैं। (२७९, २८०)

क्षेमेन्द्र : क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। ये कश्मीर में हुए। काव्य शास्त्र, नाट्यशास्त्र और तन्त्र, दर्शन तथा शैव दर्शन के महान् आचार्य अभिनवगुप्त इनके गुरु थे। क्षेमेन्द्र का कर्तृत्व विपुल है और साहित्य की अनेक विधाओं में इन्होंने निराली रचनाएं कीं। काव्य शास्त्र, नाटक, महाकाव्य, खण्ड काव्य आदि विविध क्षेत्रों में इनकी रचनाऐं हैं। व्यंग्य या उत्प्रास की शैली के प्रयोग में क्षेमेन्द्र बेजोड़ हैं। राजा, अधिकारियों, मन्त्रियों, वेश्याओं, कुट्टनियों, दलालों विभिन्न काम-धन्धों में लगे लोगों के जीवन का कच्चा चिट्ठा इन्होने अपने काव्यों में प्रस्तुत किया है। (१७८, २३०)

गोवर्धन : गोवर्धन बारहवीं शताब्दी में बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के आश्रित थे। महाकवि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में इनके काव्य की प्रशंसा की है। इनकी माता का नाम नीलाम्बरा था। गोवर्धन की आर्यासप्तशती संस्कृत मुक्तक परम्परा में सुविदित है। यह हाल के द्वारा संकलित प्राकृत काव्य 'गाहासतसइ' का प्रतिदर्श ले कर रची गई है। उस समय अपभ्रंश, अवहट्ट तथा नव्य भारतीय भाषाओं में जो कविता उभर रही थी, उसकी भी प्रतिंच्छवि गोवर्धन के काव्य पर है। बंगाल के गांवों का उन्होने सरस चित्रण किया है। सकमृ० में गोवर्धन के ६ पद्य उद्धृत हैं। (१५६, १७३)

चक्रपाणि : चक्रपाणि का नाम दण्डी के अपूर्ण दशकुमारचरित के पूर्तिक्र्ता के रूप में लिया जाता है। इनका समय अज्ञात है। सुरको० में २ तथा सकमृ० में इनके चार पद्य उद्धृत हैं। (१३९)

जयवर्धन : जयवर्धन कश्मीर के थे। सुरको०, सकमृ० में इनका एक-एक पद्य उद्धृत है। (२०७)

जलचन्द्र : सकमृ० में जलचन्द्र का एक पद्य उद्धृत है। (७५)

डिम्बोक : डिम्बोक के हिगोंक, बिम्बोक, हिंगोक-ये नाम भी मिलते हैं। सुरको० में पाँच तथा सकमृ० में इनके छह पद्य उद्धृत हैं। (२६६)

त्रिपुरारिपाल : इनका केवल त्रिपुरारि नाम भी प्रयुक्त है। सकमृ० में त्रिरपुरारि के नाम से दो तथा त्रिपुरारिपाल के नाम से नौ पद्य उद्धृत हैं। (२५९)

दिविर किशोरक : (८१)

दुर्गत : दुर्गत शब्द का प्रयोग लोक जीवन की संस्कृत कविता में प्रायः दरिद्र गृहस्थ के लिये हुआ है। सम्भव है दुर्गत-जनों के चित्रण के कारण कवि का यह उपनाम चल पड़ा हो। सकमृ में दुर्गत का एक पद्य मिला है। (७७)

धरणीधर : सुरको० में धरणीधर के चार तथा सकमृ० में भी चार पद्य उद्धृत हैं। (१०६)

धर्मकीर्ति : धमीकीर्ति प्रख्यात बौद्ध दार्शनिक हैं। इनका समय सातवी शताब्दी के आस पास है। काव्य शास्त्र के महान् आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में इनके दो पद्य उद्धृत कर के उन पर विस्तृत चर्चा की है। धर्मकीर्ति का अलग से कोई काव्य नहीं मिलता। दर्शन के इनके कई-कई ग्रन्थ प्रख्यात हैं। सुभाषित संग्रहों में कुल मिला कर लगभग ३० श्लोक इनके नाम से उद्धृत मिलते हैं, जिनसे इनकी काव्य प्रतिभा तथा रचना पटुता का परिचय मिलता है।

धर्मकीर्ति ने प्रचलित काव्य परम्परा की रूढ़ियों को तोड़ते हुए भिन्न प्रकार की कविता रची। इसलिये वे साहित्य जगत् में अपनी उपेक्षा होने की शिकायत करते हैं (देखें-इस पुस्तक में पद्य सं० ३१२)। वे यह भी कहते हैं कि भले ही मेरे आगे या पीछे कोई न चले, फिर भी मुझे अपना वाम-मार्ग सुविदित है, और मैं उस पर चलता रहूँगा (वही)। वे साहस के साथ वाल्मीकि और व्यास तक की कविता में अत्युक्तियों की भरमार होने के कारण इनकी कविता के निर्दोष न होने की घोषणा करते हैं, तथा अपनी कविता में तराजू पर तोल तोल कर शब्दों और अर्थो के विन्यास की विशेषता बताते हैं (देखें-प्रस्तुत पुस्तक में सं० ३१४) धर्मकीर्ति कविता में अत्युक्ति और अतिरिक्त चमत्कार का विरोध करते हैं। तथापि उनकी अपनी कविता हल्की या सरल हो ऐसी बात नहीं। अल्पधी या थोड़ी बुद्धि वालों के लिये उसमें डूब पाना सम्भव नहीं है। उसका परमार्थ आसानी से नहीं पकड़ा जा सकता। (देखें-वही, पद्य सं० ३१३)

सुरको० में १६, सकमृ० में एक तथा सुभा० में धर्मकीर्ति के ७ श्लोक उद्धृत हैं। धर्मकीर्ति के रचे अनेक श्लोक भर्तृहरि के सुभाषित संग्रहों में अनुप्रविष्ट हो गये ऐसी सम्भावना प्रकट की गई है। यही नहीं, धर्मकीर्ति तथा भर्तृहरि को भ्रमवश कहीं-कहीं एक भी मान लिया गया है। इत्सिंग ने जिस भर्तृहरि को ६५२ ई० में दिवगंत

बताया है, कोसाम्बी के अनुसार वह वास्तव में धर्मकीर्ति ही थे (सुरको० भूमिका, पृ०८१)।

(२४१, २६१, ३१२-१४)

धीरनाग : धीरनाग के लिये दिङ्नाग, रविनाग या वीरनाग- ये तीन नाम भी वर्तनी के भ्रम से लिखे जाते रहे हैं। कोसाम्बी ने धीरनाग ही शुद्ध पाठ माना है। धीरनाग सम्भवतः बौद्ध-शैव थे, तथा इन्होने ही कुन्दमाला नाटक भी लिखा था। सकमृ० में इनके नाम के पहले भदन्त जोड़ा गया है। सुरको० में इनके नाम से एक तथा सुभा० में पाँच पद्य उद्धृत हैं। (१०१)

नीलकण्ठ दीक्षित – नीलकण्ठ दीक्षित सत्रहवीं शताब्दी के महान् आचार्य श्रीमदप्पय दीक्षित के भाई के पौत्र थे। अप्पय दीक्षित के सहोदर भाई अच्चा दीक्षित थे, जिनके पुत्र नारायणध्वरी हुए। नारायणध्वरी के पाँच पुत्रों में नीलकण्ठ एक थे। **नीलकण्ठ नायक वंश के एक पराक्रमी राजा सौमल नायक के प्रधान मंत्री तथा प्रधान पण्डित रहे।**

नीलकण्ठ ने चम्पू, नाटक, महाकाव्य, स्तोत्र, मुक्तक आदि अनेक विधाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना की तथा शास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे। इनके कुछ काव्य उस समय के समाज का सीधे-सीधे चित्रण करते हैं। ऐसे काव्यों में व्यंग्य और विडम्बना की तीखी धार है। (२७१-७३, ३१९-२१)।

पिआक : पिआक के दो पद्य सकमृ० में उद्धृत हैं। एक पद्य इसी संग्रह में प्रियाक का उद्धृत है। सम्भवतः पिआक और प्रियाक एक ही के नाम रहे हों। इनके विषय में अन्य जानकारी अप्राप्त है। (१५२)

पुष्पाकर : सुरको० में पुष्पाकर के स्थान पर पुष्पाक भी कवि का नाम मिलता है। पुष्टीक तथा पुष्टिंकर नाम भी प्रयुक्त हुए हैं। कवि के विषय में अन्य कुछ ज्ञात नहीं है।(१७९)

बाण : बाण सातवी शती में कन्नौज के राजा हर्षवर्धन के समकालीन संस्कृत के प्रख्यात गद्यकार हैं, जिन्होंने हर्षचरित आख्यायिका तथा कादम्बरी कथा का प्रणयन किया। चण्डीशतक इनका स्तोत्र कांव्य है। सुभाषित संग्रहों में बाण के रचे अनेक मुक्तक उद्धृत मिलते हैं, जो बाण ने अपने गाँव (प्रीतिकूट) से निर्वासित जीवन बिताते हुए देश में गाँव-गाँव भटकते हुए रचे होंगे। बाण को लोक जीवन पर काव्य लिखने वाले बाद के कवियों ने अपना आदर्श माना है। इनकी कादम्बरी और हर्षचरित में जंगलों, वनग्रामों आदि के वर्णनों की तुलना इनके सुभाषितों से की जा सकती है, जिस पर ऊपर विवेचन किया गया है। सकमृ० के एक सुभाषित मे बाण, केशट, योगेश्वर और राजशेखर की परम्परा में कवि वसुकल्प को रखते हुए उन्हें कलिकाल के पुष्पधन्वा

की शिक्षा से रचना करने वाला कहा गया है-

बाणः प्राणिति केशटः स्फुटमसौ जागर्ति योगेश्वरः
प्रत्युज्जीवति राजशेखरगिरां सौरभ्यमुन्मीलति।
येनायं कलिकालपुष्पधनुषो देवस्य शिक्षावशा-
दाकल्पं वसुकल्प एक वचसि प्रागल्भ्यमुमभ्यस्यति।।

(सकमृ० २-२८)

सकमृ० में ही भवानन्द के नाम से उद्धृत एक पद्य में बाण को योगेश्वर की परम्परा का प्रर्वतक मानते हुए कहा गया है-

बाणः सृष्टिमपूर्ववस्तुविषयामेकोऽत्र निर्व्यूढवान्।

(सुरको १६९९ में भिन्न पाठ, सकमृ० २-२६)

(१७१, १८१, १८२, १८५, १८६, १८९, १९०, १९१, १९७, २००, २०९, २१४, २२३)

भर्तृमेण्ठ : भर्तृमेण्ठ लुप्त हयग्रीववध महाकाव्य के रचयिता तथा कश्मीर के राजा मातृगुप्त के समकालीन थे। किंवदन्ती है कि ये राजा के हस्तिपक (महावत) थे। हाथी पर एक मार्मिक पद्य इनका है। सकमृ० में इनके चार पद्य उद्धृत हैं।(१५५, २५७-५८)।

भर्तृहरि : भर्तृहरि के रचे नीतिशतक, शृंगार शतक तथा वैराग्य शतक-ये तीन काव्य मिलते हैं। इनको ले कर अनेक किंवदन्तियां या आख्यान प्रचलित हैं। संस्कृत में हरिहर उपाध्याय ने भर्तृहरिनिर्वेद नाम से एक नाटक भर्तृहरि के चरित को ले कर पन्द्रहवी शताब्दी में लिखा। (२८८-९४, २९६)

भल्लट : मल्लट कश्मीर के राजा शंकर वर्मन् (८८३-९०२ ई०) के शासन काल में रहे। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी (५, २०४) में इनका उल्लेख किया है। भल्लट शतक इनकी सुप्रशिसद्ध रचना है। काव्यशास्त्र के आचार्यों में आनन्दवर्धन और भम्मट ने भल्लट के पद्य उद्धृत किये हैं, जिससे सिद्ध होता है कि भल्लट को अपनी कविता के लिये उनके जीवन काल में ही सराहा जाने लगा था। (२४६)।

भवानन्द : सकृम० में भवानन्द के १० पद्य उद्धृत हैं। सुरको० में योगेश्वर आदि पर एक पद्य अभिनन्द के नाम से उद्धृत है, सकमृ० में यही पद्य स्वल्प पाठभेद के साथ भवानन्द के नाम से उद्धृत हैं (बाणः सृष्टिमपूर्ववस्तुविषयाम्०-इत्यादि, आगे 'योगेश्वर' शीर्षक देखें)। ऐसी स्थिति में यह भी सम्भव है कि अभिनन्द और भवानन्द एक ही कवि के नाम हों। (२०४)।

भानु : इनके सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। (११२)

भोज : ये धारा के राजा हैं (१०००-१०५५ ई०)। प्रतिहार भोज नरेश से ये अलग हैं। सुरको० में भोज के रचे छह श्लोक उद्धत हैं, इनमें एक श्लोक तुरुष्कराज के साथ सहलेखन में है। सकमृ० में इनके रचे ८ पद्य उद्धृत हैं। भोज ने अपने काव्य शास्त्र-विषयक ग्रन्थों - शृंगारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठामरण में भी लोक जीवन पर काव्य लिखने वाले अनेक संस्कृत कवियों को उद्धृत किया है। (१५८)

बिल्हण-बारहवी शताब्दी के कश्मीर के कवि, जिन्होंने कश्मीर से यात्रा करते हुए कुछ समय गुजरात में निवास किया तथा चालुक्य राजा विक्रमांकदेव के आश्रय में रहे। 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य तथा चौरसुरतपञ्चाशिका-इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इनके अनेक स्फुट मुक्तक भी रहे होंगे-यह अनुमान किया जा सकता है। (२६०)

मयूर : बाण के समकालीन तथा उनके साले कहे जाते हैं। सुरको० में दो तथा सकमृ० में इनके रचे चार पद्य उद्धृत हैं। 'सूर्यशतक' स्तोत्र काव्य इनकी प्रसिद्ध रचना है। (१३७)

मातृषेण : मातृगुप्त तथा मातृचेट नामक दो कवि हुए हैं। मातृषेण इनसे भिन्न हो सकते हैं।

मुरारि : दशवी शताब्दी में हुए। अनर्घराघव नाटक इनकी प्रख्यात रचना है। तन्तुमती तथा भट्ट श्रीवर्धन के ये पुत्र थे। स्टीन कानो के अनुसार ये माहिष्मती में कलचुरी राजा के आश्रित रहे। मुरारि के बहुसंख्य पद्य सुभाषित संग्रहों में उद्धृत मिलते हैं, इनमें से कई अनर्घराघव नाटक के बाहर के भी हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने अनर्घराघव नाटक के अतिरिक्त अन्य काव्य या मुक्तक भी लिखे होंगे। सुरको० में इनके ३४ पद्य नामोल्लेख के साथ तथा २२ पद्य बिना नाम उल्लिखित किये उद्धृत हैं। सकमृ० में इनके रचे २२ पद्य मिलते हैं। (२८३)

योगेश्वर : योगेश्वर को लोकधर्मी संस्कृत काव्य परम्परा का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। इनका लिखा कोई स्वतन्त्र काव्य नहीं मिलता। सुभाषित संग्रहों में कुल मिला कर ७० मुक्तक योगेश्वर के रचे उद्धृत हैं, जिनसे उनकी विलक्षण कवि प्रतिभा का परिचय मिलता है। योगेश्वर का समय नवीं शताब्दी या उसके कुछ पूर्व है। ये बंगाल के पाल राजा के आश्रित रहे-ऐसा इंगाल्स का अनुमान है।

सकमृ० में योगेश्वर के ५० पद्य उद्धृत हैं तथा सुरको० में २४ पद्य नामोल्लेख के साथ व १२ पद्य बिना नामोल्लेख के योगेश्वरकृत उद्धृत हैं।

योगेश्वर के अपने पद्य भोज ने सरस्वतीकण्ठामरण तथा शृंगारप्रकाश में उद्धृत किये हैं। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में उनकी कविता उद्धृत की है। इससे स्पष्ट है कि नवी शताब्दी मे आस-पास योगेश्वर एक महाकवि के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे। सुभाषित संग्रहों में धर्म योगेश्वर तथा करंजयोगेश्वर के नाम से कुछ पद्य

मिलते हैं, ये दोनों कवि योगेश्वर से भिन्न हैं।

सुरको० में उद्धृत अभिनन्द के एक पद्य (सं०१६९९) में योगेश्वर के कवित्व की सराहना तात (बाण?) तथा वागुर के कवियों के साथ तुलना करते हुए की गई है तथा योगेश्वर को नर्मदा और विन्ध्य के अंचलों में रहने वाले पुलिन्दों (जनजाति) तथा पामरो (खेतिहार मजदूर) की स्त्रियों के जीवन के अंधड़ की अंधड़ जैसी अभिव्यक्ति देने वाले कवि बताया है-

तात: सृष्टिमपूर्व वस्तुविषयामेकोऽत्र निर्व्यूढवान्
निष्णात: कविकुञ्जरेन्द्रचरिते मार्गे गिरां वागुर:।
रेवाविन्ध्यपुलिन्दपामरवधूभूगोलझञ्झानिल-
प्रायेर्थे वचनानि पल्लवयितुं जानाति योगेश्वर:।।[1]

सकमृ० के एक दूसरे श्लोक में बाण, केशट, योगेश्वर और राजशेखर की परम्परा में वसुकल्प कवि को स्थापित करते हुए उन्हे कलिकाल के पुष्पधन्वा की शिक्षा से रचना की प्रगल्भता प्रकट करता हुआ बताया गया है-

बाण: प्राणिति केशट: स्फुटमसौ जागर्ति योगेश्वर:
प्रत्युज्जीवति राजशेखरगिरां सौरभ्यमुन्मीलति।
येनायं कलिकालपुष्पधनुषो देवस्य शिक्षावशा-
दाकल्पं वसुकल्प एक वचसि प्रागल्भ्यमभ्यस्यति।।

योगेश्वर एक पद्य में खेत के देवता को खून की बलि देने, कान्तार दुर्गा की अर्चना करने तथा मालूर (बिल) के कुप्पों में पुरानी मदिरा पी पी कर मदमत्त होने वाले बर्बर शबरो का वर्णन करते हैं (इस पुस्तक में पद्य सं० १७६), धान कटने पर गाँव के किसानों के प्रमुदित होने का अत्यन्त सजीव चित्रण करते हैं (इस पुस्तक में पद्य सं० ८०)। निम्न वर्ग की गृहिणियों पर अत्यन्त मार्मिक पद्य योगेश्वर ने रचे हैं (देखें यहाँ सं० ७८)

सुरको० में योगेश्वर के नाम से निम्नलिखित पद्य से उद्धृत हैं, जिस में कवि ने अपने आदर्श कवियों और काव्य मार्ग की चर्चा की है-

उन्नीतो भवभूतिना प्रतिदिनं बाणे गते य: पुरा
यश्चीर्ण: कमलायुधेन सुचिरं येनागमत्केशट:।
य: श्रीवाक्पतिराजपाद रजसां सम्पर्कपूतश्चिरं
दिष्ट्या श्लाघ्यगुणस्य कस्यचिदसौ मार्ग: समुन्मीलति।।

(सुरको० १७३३)

१- सकमृ० में यह श्लोक किंचित् पाठभेद के साथ भवानन्द के नाम से उद्धृत है। तात: के स्थान बाण: तथा बागुर: के स्थान पर वा गुरु: पाठ मिलता है। तीसरा चरण यों है- वैद्या विन्ध्यपुलिन्दपामरवधूभूगोल झञ्झानिल०-"।

सकमृ० में यही पद्य अभिनन्द- विरचित बताया गया है। अस्तु, अभिनन्द तथा योगेश्वर के नैकट्य पर पहले चर्चा की जा चुकी है। योगेश्वर या अभिनन्द जैसे कवियों ने बाण और भवभूति की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त की, कमलायुध, केशट तथा वाक्पपतिराज को भी अपनी धारा में अनुकरणीय कवि माना ।

योगेश्वर की कविता संस्कृत साहित्य में ताजी हवा का झौंका है। भाषा और अभिव्यक्ति की कला की दृष्टि से योगेश्वर प्रवीण शिल्पी हैं, भावबोध और संवेदना में वे अनुभूतियों का अलग ही संसार रचते हैं। योगेश्वर के कुछ पद्य देवी-देवताओं पर हैं, पर उनमे मानवीय सम्बन्धों के राग-रंग की अनूठी छटा है। वे देवी पार्वती के द्वारा पुत्र को जन्म देने पर शिवगणों के विचित्र उल्लास और उछाह का चित्रण करते हैं (सुरको० ७१, सकमृ० १५८)। शिव के ताण्डव के आरम्भ के पहले नन्दी की दिक्पालों, धरती, पहाड़ों और ब्रह्मा को दी गई चेतावनी (सुरका० १०३, सकमृ० १५१) या शिव के विचित्र चरित को ले कर भृंगी की उधेड़बुन का चित्रण (सुरको० १०३, सकमृ० १५१) देवताओं पर लोक जीवन की रंगत चढ़ा देता है। पार्वती और स्कन्द का रोचक संवाद, शिव पार्वती को तांडव सिखाना, ताण्डव की तैयारी इनके बड़े मधुर और ओजस्वी चित्र योगेश्वर ने उकेरे हैं। एक पद्य में वे इन्द्र और अहल्या के छिप कर मिलने के क्षणिक सुख और ग्लानि का अद्‌भुत चित्र अंकित करते हैं (सुरको० ८१४)। योगेश्वर के बहुसंख्य पद्य विन्ध्याचल के जंगल का वातावरण, पहाड़ का रमणीय-भयावह सौन्दर्य और दावानल की विकरालता का चित्रण करते हैं। सामान्य लोगों के जीवन की विभीषिकाओं तथा उनके सुख के संसार दोनों को बहुत अच्छी समझ के साथ योगेश्वर ने चित्रित किया है। मौसम की मार से बेहाल बटोहियों की परेशानी के निरूपण में योगेश्वर बेजोड़ हैं (प्रस्तुत पुस्तक में सं० २१०, २११, २२३) गाँव के सिवान और नदियों के कछारों पर वे खूब रमते हैं (सं० २१३, १६६, १६१)। गाँव के लोगों के स्वभाव तथा ग्राम-परिवेश पर उनकी पकड़ है। गांव में घूमते कीकट के लड़के (१५७) तथा बरसात में टकपते घर को बचाने की चेष्टा में लगी गृहिणी (९१) के उनके चित्र संस्कृत कविता की महती उपलब्धि कहे जा सकते हैं। फसल कटने के बाद गरूर से फूले हलवाहे (१७१) या गाँव के प्रमोद (८०, १४९) भी सजीव हैं। योगेश्वर संस्कृत में लोकधर्मी काव्यधारा की गंगोत्री बहाने वाले कवि हैं। उनकी कविता की परिधि विस्तीर्ण है। प्रकृति के नाना रूपों तथा परिवर्तनशील परिवेश के गत्यात्मक निरूपण में वे दक्ष हैं। नये विम्ब या उपमान, अनूठी उत्प्रेक्षाएँ या रूपक भी उन्होंने रचे हैं, पर उनकी कविता का वैशिष्ट्य मुख्य रूप से स्वभावोक्ति में है।

सकमृ० में योगेश्वर के रचे ५० पद्य उद्‌धृत हैं, इनमें से २२ पद्य सुरको० तथा सकमृ० में उभयनिष्ठ हैं, यद्यपि इन २२ में से १३ के साथ योगेश्वर का नामोल्लेख नहीं है। सुरको० में योगेश्वर के रचे कुल ४१ पद्य उद्‌धृत हैं, जिनमें से ४ का कर्तृत्व

सन्दिग्ध है।

डॉ. नामवर सिंह कहते हैं- योगेश्वर की विशेषता यह है कि गरीबी के चित्रण में भी उस गरीबी से लड़ते हुए मनुष्य की जीवनी शक्ति को अनदेखा नहीं करते, बल्कि उस जीवनी शक्ति में ही उन्हे सचमुच का रस मिलता है (आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर ८७, पृ०६)

(७८, ८०, ८७, १२६ (?), १४९, १५०, १५७, १६१, १७१, १७६, २१०-११, २१३, २२०, २२९, ३२७)

राजशेखर : राजशेखर का समय नवी-दशवी शताब्दी है। ये महामन्त्री दुर्दुरूढ या दुहिक के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शीलावती था। इनके पितामह अकालजलद भी कवि के रूप में प्रसिद्ध रहे। इनके पूर्वजों में सुरानन्द, तरल तथा कविराज भी कवि के रूप में प्रसिद्ध रहे थे। चौहान कुल की राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी से राजशेखर ने विवाह किया था। यायावर वंश के ब्राह्मण राजशेखर प्रतिहार राजाओं महेंन्द्रपाल तथा महिपाल (८९०-९२०) के गुरु रहे। ये त्रिपुरी में केयूर वर्ष युवराजदेव की सभा में भी रहे, जहाँ इनकी लिखी नाटिका विद्धशालभंजिका का मंचन हुआ। बालरामायण महा नाटक, प्रचण्डपाण्डव या बालभारत (अपूर्ण) विद्धशालभञ्जिका (नाटिका) तथा कर्पूरमंजरी (प्राकृत भाषा में सट्टक)-ये राजशेखर के रूपक हैं। काव्यमीमांसा इनका काव्यशास्त्र का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो अधूरा मिलता है।

राजशेखर के सुभाषित संग्रहों में प्रचुर उद्धरण मिलते हैं। सुरको० में ८० पद्य राजशेखर के नामोल्लेख के साथ तथा ३६ पद्य इनके रचे बिना नाम का उल्लेख किये उद्धृत हैं। सकमृ० में ९४ पद्य राजशेखर के रचे उद्धृत हैं। इनमें से कुछ ऐसे पद्य भी हैं, जो राजशेखर की प्राप्त रचनाओं में नहीं मिलते। (२८५)

रामचन्द्र : रामचन्द्र का समय बारहवी शताब्दी है। ये प्रख्यात आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। रामचन्द्र ने अपने को प्रबन्धशतकर्ता कहा है। उनकी ४७ पुस्तकों के नाम अब तक विदित हो सके हैं। इनमें रूपक, काव्य तथा स्तोत्र और शास्त्रीय रचनाएँ समाविष्ट हैं। उनके लिखे ११ रूपकों में छह मिलते है- नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, निर्भयभीमव्यायोग, रघुविलास तथा मल्लिकामकरन्द। उनके काव्यों में कुमारविहारशतक मिलता है। द्रव्यालंकार, नाट्यदर्पण तथा हैमबृहद्वृत्तिन्यास उनके शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। अपनी रचनाओं में रामचन्द्र ने वैदिक धर्म में फैले पाखंडी तथा ब्राह्मणों की लालची वृत्ति पर कठोर शब्दों में छींटाकशी की है।(२६५, ३२५)।

लक्ष्मीधर : लक्ष्मीधर धारा के राजा भोज के समकालीन थे। उनका चक्रपाणिविजय महाकाव्य एक श्रेष्ठ रचना है। डे के अनुसार वे मूलतः बंगाल के थे। कोशल देश में भट्टकौशल, गाँव को उन्होंने अपना निवास बताया है। ये प्रसिद्ध सुभाषितसंग्रहकार

शाङ्र्गधर के भाई थे। चक्रपाणिविजय महाकाव्य में उन्होंने भोज की सभा में अपना अनादर होने का संकेत दिया है, तथा राजसभा के प्रति वितृष्णा प्रकट की हैं इनका शीत के समय के ग्राम के दृश्य का वर्णन (प्रस्तुत पुस्तक में सं० २२४) अनेक सुभाषित संग्रहों तथा भोज और राजशेखर जैसे आचार्यो के द्वारा उद्धृत किया गया है।

सुरको० में लक्ष्मीधर के ११ पद्य नामोल्लेख के साथ तथा पाँच पद्य अज्ञातकर्तृक बता कर उद्धृत किये गये हैं। सकमृ० में इनके १७ पद्य हैं। (२२४)

लंगदत्त : सकमृ० में लंगदत्त के ६ पद्य उद्धृत हैं। सुरको० में इनका कोई पद्य नहीं है, अतः इनका समय १२वीं शताब्दी के कुछ बाद हो सकता है। (९१)

वाचस्पति : वाचस्पति के सकमृ० में ७ पद्य उद्धृत हैं। अन्य कोई जानकारी इनके विषय में उपलब्ध नहीं है। (१५३)

वांछानाथ : वांछानाथ का अन्य नाम वांछेश्वर भी मिलता है। ये तंजौर के राजा प्रतापसिंह तथा तुकोजी के समय रहे। वांछानाथ की तंजौर की राजसभा के मन्त्री घनश्याम से प्रतिद्वंद्विता थी। सम्भवतः इन्हें राजसभा से अपमानित हो कर अपने गाँव लौटना पड़ा था। महिषशतकम्-वांछानाथ की एकमात्र रचना मिलती है, जिसकी पांडुलिपि के अन्त में वांछानाथ के कतिपय स्फुट श्लोकों के भी सन्दर्भ हैं।

कृष्णमाचारी (प्रघ० १६३) ने वांछानाथ को तंजौर के राजा तुक्काजी।(१७२८-३५ ई०) का मन्त्री बताया है, तथा महिषशतकम् को महिष की राजा तुक्कोजी से तुलना प्रस्तुत करने वाली रचना माना है।

महिषशतकम् में भोंसले राजाओं के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट किया गया है, जिसके कारण इसे प्रशस्ति काव्य मानना उचित नहीं लगता। इस काव्य से यह विदित अवश्य होता है कि इसके रचयिता को राजसभा में तिरस्कृत होने पर गाँव आ कर कृषि अपनानी पड़ी थी। कृषि करते हुए भी उसका उपहास किया जाता रहा। अत्यन्त हताशा और क्षोभ की मनोदशा में कृषि में जिस भैंसे को वांछानाथ जोतते थे, उसकी प्रस्तुति करते हुए यह काव्य इन्होने लिखा।

विक्रमादित्य : विक्रमादित्य संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य हैं, या छठी शताब्दी के कश्मीर के राजा मातृ गुप्त हैं, जिन्होंने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी- यह कहना कठिन है। सुभाषित संग्रहों में राजा विक्रमादित्य के पद्य मिलते हैं। (३१६)

विरञ्चि : विरञ्चि के ११ पद्य सकमृ० में मिलते हैं। अन्य कोई जानकारी इनके विषय में प्राप्त नहीं होती। (८३, २०३)

विशाखदत्त : मुद्राराक्षस तथा देवी चन्द्रगुप्तम् नाटकों के रचयिता। सकमृ० में इनके तीन पद्य उद्धृत हैं। (२४८)

वैनतैय : सकमृ० में वैनतैय का एक पद्य उद्‌धृत है। अन्य कोई जानकारी इनके विषय में नहीं मिलती। (७९)

वैश्य : सुरको० में वैश्य का एक पद्य मिलता है। (२२५)

व्यास : व्यास के नाम से सुभाषित संग्रहों में अनेक श्लोक मिलते हैं। सम्भवतः भर्तृहरि के कुछ श्लोक भी व्यास के नाम से चल पड़े हों, क्यों कि भर्तृहरि शतकों के कतिपय पद्य पुराणों में आ गये हैं। (२५०)

शंकर मिश्र : शंकर मिश्र मिथिला में पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए। इनके पिता भवनाथ थे। इनका ३२५ श्लोकों का रसार्णव शीर्षक से स्फुट मुक्तको का संग्रह मिलता है। इनके द्वारा विरचित शाकुन्तल की रसमंजरी व्याख्या भी उपलब्ध है। (९६-९७)

शंकुक : भरतमुनि के नाट्यशास्त्र व रससूत्र के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार। सम्भवतः पांचवी-छठी शताब्दी के आस-पास ये हुए होंगे। (१९३)

शतानन्द : काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य रुद्रट की उपाधी शतानन्द थी। यदि इन्ही रुद्रट को शतानन्द माना जाये, तो इनका समय १०वी शताब्दी है। रामचरित के कर्ता अभिनन्द, जिनका परिचय ऊपर दिया गया है, के पिता का नाम भी शतानन्द था। तदुनसार शतानन्द और पहले के हैं। सकमृ० में शतानन्द के रचे १६ श्लोक उद्‌धृत हैं (१८६)

शरण : शरण का लोकजीवन पर कविता लिखने वाले कवियों में इस परम्परा के कवियों ने स्मरण किया है। शरणदेव एक बौद्ध विद्वान् थे, जिन्होने ११७२ ई० में पाणिनि की अष्टाश्यायी पर दुर्घटवृत्ति की रचना की। यें बंगाल से सम्बद्ध थे। सम्भव है कि कवि शरण तथा वैयाकरण शरणदेव एक ही व्यक्ति हों।

सकमृ० में शरण के रचे २० पद्य उद्‌धृत हैं, इनमें से ३ में कवि का नाम शरणदेव लिखा है तथा एक में चिरन्तन शरणदेव नाम दिया गया है। लक्ष्मणसेन के समकालीन गीतगोविन्दकार महाकवि जयदेव ने गोवर्धन और धोयी के साथ कवि शरण का प्रशंसा करते हुए स्मरण किया है। (९३, ९४)

शिल्हण : शिल्हण कश्मीर के निवासी थे। इनका समय बारहवी शताब्दी के पूर्व है। इनका रचा हुआ वैराग्यपरक काव्य 'शान्तिशतक' प्रसिद्ध है। सकमृ० में शिल्हण के १९ पद्य उद्‌धृत हैं। (८२)

शुभांकर : शुभांकर के शुभंकर, शुभांक तथा शुभांग ये तीन नाम भी मिलते है। ये शैव थे। सुरको० में इनके ९ श्लोक नामोल्लेख के साथ तथा ५ अज्ञातकर्तृक बता कर उद्‌धृत हैं। सकमृ० में शुभंकर ने ३ व शुभांक के १२ तथा शोभांक नाम से एक पद्य उद्‌धृत है। (१६४, १६९)

शूद्रक : मृच्छकटिक के रचयिता के रूप में जाने जाते है। सकमृ० में इनका एक पद्य उद्धृत है। (२६४, २९४-९९, २९८-३०३)

श्रीचन्द्र : (१३०)

सुव्रतदत्त : सुव्रतदत्त का सकमृ० में एक पद्य उद्धृत है। (१८४)

सोहनोक : इनके सोनोक, सोल्लोक, सोन्नोक ये नाम भी लिखित हैं। सुरको० में इनके दस पद्य उद्धृत हैं व सात पद्य शुभांक के नाम से उद्धृत हैं। (७६)

हेमचन्द्र : बारहवी शताब्दी के जैन धर्म के प्रख्यात आचार्य, काव्यानुशासन आदि लगभग १०० ग्रन्थों के प्रणेता। (२८२)

सन्दर्भ ग्रन्थ

१- अथर्ववेद- नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९९४
२- अभिनव भारती (चार खण्ड)-गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा।
३- आत्मनिन्दाष्टकम्-अज्ञात, कामा०, गु०-७
४- ऋग्वेद-सं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, मूल मात्र, स्वाध्याय मंडल पारडी, १९५७
५- आर्यासप्तशती-गोवर्धन, कामा०, १९३४
६- कलिविडम्बनम्-नीलकण्ठ दीक्षित, मायनर पोयंम्स आफ नीलकण्ठ दीक्षित, श्री रंगम्, १९११ में संकलित।
७- काव्यमीमांसा-राजशेखर, अनु० केदारनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, १९५४
८- काव्यादर्श-दण्डी, व्याख्याकार धर्मेन्द्रनाथ गुप्त, मेहेरचन्द लछमनदास, दिल्ली,१९७३
९- काव्यानुशासन-हेमचन्द्र, सं० आ० स० पारेख, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९३८
१०- काव्यानुशासन- वाग्भट, सं. पं शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१५
११- काव्यालङ्कार-भामह, सं० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना,१०६२
१२- काव्यालङ्कार-रुद्रट, कामा०, १९२८
१३- काव्यालङ्कारसङ्ग्रह- उद्‌भट निर्णयसागर प्रस बम्बई, १९२८
१४- किरातार्जुनीय-भारवि, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
१५- ध्वन्यालोकलोचन-अनु० जगन्नाथ वाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
१६- नाट्यशास्त्र- (चार खण्ड)-गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा
१७- पद्यरचना- लक्ष्मण भट्ट, सं० जगन्नाथ पाठक, गंगानाथ झा संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद, १९७९

१८- प्रबोधचन्द्रोदय-कृष्ण मिश्र, कामा०, १९३५
१९- भल्लटशतक- भल्लट, सं० वेदकुमारी घई तथा रामप्रताप, मेहेरचन्द लछमनदास, दिल्ली, १९८४
२०- मल्लिकामकरन्द- रामचन्द्र, प्राच्यविद्या मंडल, अहमदाबाद, १९८४
२१- महासुभाषितसंग्रह-सं० लुडविक् स्टर्नबाख, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर
२२- महिषशतकम्-वांछानाथ, सं० जीवानन्द विद्या सागर, शतकावलि: में प्र० कलकत्ता, १८७४
२३- मुद्राराक्षस- विशाखदत्त सं० आर० एस० त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, १९७१
२४- मृच्छकटिक- शूद्रक (?), सं० रमाशंकर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८२
२५- रसरत्नप्रदीपिका- अल्लराज, सं० आर० एक० दाडेकर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई
२६- रसार्णव- शंकरमिश्र, सं० किशोरनाथ झा, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, १९९९१
२७- राजतरंगिणी- कल्हण, अनु० पांडेय रामतेज शास्त्री, पंडित पुस्तकालय, काशी।
२८- विद्याकरसहस्रकम्- विद्याकर, सं० उमेश मिश्र, सीनेट हाउस, इलाहाबाद, १९२२
२९- वैराग्यशतक-नीलकण्ठ दीक्षित, मायनर पायम्स में संकलित।
३०- शतकत्रयादिसुभाषितसंग्रह-भर्तृहरि, सं० दामोदर धर्मदास कोसाम्बी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई
३१- शान्तिविलास- नीलकण्ठ दीक्षित, मायनर पायम्स में सं०
३२- शिशुपालवध- माघ, कामा०, १९५७
३३- शृंगारप्रकाश-मोज, सं० जी० आर० जोस्येर, मैसूर, १९५५ (चार खण्ड)
३४- संस्कृतसूक्तिसागर-सं० नारायण स्वामी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, सं० २०१४
३५- सरस्वतीकण्ठाभरण-भोज, कामा० १९३४
३६- सदुक्तिकर्णामृत-श्रीधर, सं० एस० के० डे, संस्कृत पुस्तक भण्डार कलकत्ता
३७- सुभाषितरत्नकोश- विद्याकर, हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज, सं० दामोदर धर्मानन्द कौसाम्बी
३८- सुभाषितरत्नसन्दोह- अमितगति, कामा०२२, १९०३
३९- सुभाषितहारावलि-सं० जगन्नाथ पाठक, गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, इलाहाबाद, १९८४

४०- सुभाषितावलि- वल्लभदेव, सं० पीटर्सन, भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान, पूना, १९६१
४१- सूक्तिमुक्तावलि- जल्हण, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज,
४२- सेव्यसेवकोपदेश- क्षेमेन्द्र, कामा०
४३- हर्षचरित- बाण, अनु० जगन्नाथ पाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज

संक्षिप्त नाम

ऋ०-	ऋग्वेद।
कामा०-	काव्यमाला, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
कासूवृ०-	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति-वामन।
गु०-	गुच्छक (काव्यमाला सीरीज के अन्तर्गत)।
मभा०-	महाभारत।
वारा०-	वाल्मीकि रामायण।
शाप०-	शाड्.गंधर पद्धति।
सकमृ०-	सदुक्तिकर्णामृत - श्रीधर।
सुभा०-	सुभाषितावलि - वल्लभदेव।
सुरको०-	सुभाषितरत्नकोश- विद्याकर।
सुभारको-	सुभाषितरत्नकोश-सं० भाटवलेकर।
सूमु०-	सूक्तिमुक्तावली जल्हण।
शृंप्र०-	शृङ्गारप्रकाश; भोज।

●●●

अनुक्रम

•

१.	आदिम अग्नि	८७
२.	उषा	९०
३.	खेत का गीत	९२
४.	गायें	९५
५.	श्रमगीत	९८
६.	अरण्यानी	१००
७.	देवी रात	१०२
८.	पर्जन्य	१०५
९.	धरती माँ	१०८
१०.	घर परिवार	११४
११.	गृहिणी	१२३
१२.	बच्चे	१२७
१३.	परिवार	१३३
१४.	बैल	१४१
१५.	गाय	१४९
१६.	भैंसा	१५१
१७.	गाँव	१५४
१८.	गाँव की स्त्री	१६०
१९.	सिवान	१६२
२०.	खेत	१६७

२१. हलवाहे १६९
२२. ग्वाला १७२
२३. शबर १७३
२४. बस्ती १७६
२५. बटोही १७८
२६. बटोही की घरवाली १८८
२७. प्याऊ १८९
२८. वसन्त १९१
२९. ग्रीष्म १९२
३०. वर्षा १९६
३१. शरद् २००
३२. हेमन्त २०२
३३. शिशिर २०६
३४. सेवक २०८
३५. निर्वेद २२०
३६. अन्योक्ति २२२
३७. जुआरी २२७
३८. भिखारी २२९
३९. पाखंडी लोग २३२
४०. अनुभव २३७
४१. दृष्टि २४९
४२. श्लोकानुक्रमणिका २५९

●●

संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा

(चयन तथा अनुवाद)

(१) आदिम अग्नि

१. अस्य रण्वा स्वस्येव पुष्टिः संदृष्टिरस्य हियानस्य दक्षोः।
वि यो भरिभ्रदोषधीषु जिह्वामत्यो न रथ्यो दोधवीति वारान्।।

लो यह उठ रहा है जंगलों को जलाने को आतुर
अग्नि का पुष्ट होता देहाकार,
सचमुच अग्नि जैसा ही है यह रूप
कितना अच्छा लगता है सुलग सुलग उठना
और भी लगता है भला देखना इसको जब यह
लप लप करती अपनी ज्वाला जिह्वाओं से
चाट चाट जाता है काष्ठ खण्ड न जाने कितने
अपने लपटों के केश हिला कर
जैसे सरपट भागा जाता अश्व भयावह
कम्पित करता हो गरदन के अयाल।

२. आ यो वना ता तृषाणो न भाति वार्ण पथा रथ्येव स्वानीत्।
कृष्णाध्वा तपू रण्वश्चिकेतु द्योरिव स्मयमानो नभोभिः।।

(ऋग्वेद, २/४/४-६)

जब यह अतिशय प्यासा होकर पेड़ों को
निगल निगल लेने को, झपट झपट पड़ता है जंगल पर
बहते पानी सा फैल फैल जाता है सब ओर
रथ में जुते अश्व सरीखी करता हिन-हिन
छोड़ता हुआ लकीर धुएँ की काली
और तपाता सबको, फिर भी लगता मनहर
आसमान को साथ उठाये, मुस्काता तारों में
चमकीला सूरज ज्यों उतरा हो धरती पर।

३. वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रा देवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनक्षे।।

वही, ५.२.९

अपने प्रकाश की विपुल राशि में दमक दमक उठता है यह
संसार प्रकट होता है आँखों के आगे,
ज्वालाओं के पुंजों में जब यह जगता है,
अन्धकार की सब मायाएँ मिट जाती है इसके प्रकाश में
राक्षस अन्यायी का सर्वनाश करने को
घिर कर, तराश कर करता है यह तीखा धारदार
अपने ज्वालाओं के सीगों का अचूक हथियार।

४. नू चित्सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः।
वि साधिष्ठेभिः पृथिवी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति।।

अरणियों के मथते ही उठ आया है लपक लपक कर
बलशाली दूत विवस्वत् का, यह अग्नि अमर,
झटपट सीढ़ी–दर–सीढ़ी, चढता जाता यह ऊपर, और अधिक ऊपर
अन्तरिक्ष को नाप रहा यह, कितना सुन्दर है इसका पथ।
ऊपर चढ़ देवों को गुहारता हवि पहुँचाने को उन तक।

५. आ स्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्वविष्यन्नतसेषु तिष्ठति।
अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्।।

हाँ यह वही अग्नि है अजर अमर, अग्नि जो काष्ठों पर
चढ़ता जाता है, निगल निगल लेता तिनकों को, झाड़ी झंखाड़ों को।
कितना चमकीला होता है उनको खा कर, कितना प्रकाशमय,
दहक दहक जब यह जला डालता है जंगल के जंगल
करता हुआ साँड सा क्रन्दन, आसमान को गुँजा–गुँजा कर।

६. वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः।
तृषु यदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजर।।

वायु इसे करता है प्रेरित, और यह गरज गरज कर
अपनी छुरी सी तीखी जिह्वा से, चीर देता काष्ठखण्ड

ओ तेजोमय, ज्वालामय, अजर अग्नि ! अन्धकार——
बन जाता है तेरा द्वार, जब तू प्यासे पुष्ट वृषभ सा——
झपट झपट पड़ता वन के वृक्षों पर।

७. **तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अववाति वंसगः।**
अभिव्रजन्नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथ भयते पतत्रिणः।।

ज्वालाओं के हथियारों को चला चला कर
और वायु से होकर प्रेरित
पी जाता यह पेड़ों के भीतर का रस
सारा जंगल कम्पित होकर हो जाता इसका वशवर्ती
ज्यों गायों का झुण्ड साँड के वश में हो।
भयत्रस्त सभी हो जाते स्थावर जंगम
गर्जन करता, अपने ताण्डव से जब यह हिला दिया करता वन।

८. **भवा वरूथं गृणते विभावो भवा मघवन् मघवदभ्यः शर्म।**
उरुष्याग्ने अंहसो गृणन्तं प्रातर्मक्षू, धियावसुर्जगम्यात्।।
वही १/५८

ओ प्रकाशमय, हम हैं प्रणत तुम्हारे सम्मुख
तुम बन जाओ वह घर, जो दे हमें शरण
इस अन्धकार से, पापी बैरी से हमें बचाओ
जैसे आये हो आज हमारे घर में
कल प्रातः भी, फिर अगले दिन—
और रोज रोज तुम आओ।

◆◆◆

(२) उषा

९. **सह वामेन न उषा व्युच्छा दुहिर्दिवः।**
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती।।

आसमान की बेटी है यह उषा
नित प्रति उतर उतर धरती पर
संग अपने प्रभात को लेकर
देती है सब ओर बिखेर
अनगिनती किरणों के ढेर
लगता है मणि माणिक बाँट रही है।

१०. **उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्**
ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः।।

यह कल भी आयी थी ऐसे ही
आज फिर लौट आयी है ऐसे ही
नित प्रति ऐसे ही आयेगी यह

रथ अनगिनती चल पड़ते हैं
इसके आते ही सड़कों पर
व्यापारी जैसे खोल चुके
नावों की पातें सागर के पर।

११. आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रयुञ्जती।
जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः।।

यह है सुन्दर रमणी के जैसी मदमाती।
चिरयौवनरसभरी, नित्य ही हमें जगाती।
चरणों में चलने को भर भर देती जीवन
पंछी के पंखों में भर देती है स्पन्दन।

१२. एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान्।।
(ऋग्वेद १/४८)

छोड़ पीछे सूरज का रथ
भर दिया प्रकाश से उसका पथ।
खोल रही है नभ के बन्द द्वार
दूर कर जग का सब अन्धकार।।

◆◆◆

(३) खेत का गीत

१३. क्षेत्रस्य पतिना वयं हि तेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयिन्त्वा स नो मृळातीदृशे।।

सब प्राणियों के हित के लिये हम
खेत के देव का करें आराधन
देते रहें गायों, अश्वों के पोषण को धन
वे सुख सदा देते रहें।

१४. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्च्युतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु।।

मधु बरसाते घृत के जैसे
हे खेत देव, मधुमय जल दो
दूध बहाती गायों जैसे
खेतों के सुखमय स्थल दो।

१५. मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो - मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम।।

औषधियाँ सब मधुमती रहें
मधुमय जल हो, मधुमय अन्न रहे
अन्तरिक्ष बन जाए मधुमय
खेत देव भी हो वह मधुमय
न करें हम कहीं कोई क्षरण
करे खेत देव का अनुसरण

१६. शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वस्त्रा बध्यन्तां शुनमद्रामुदिङ्गय।।

बैल सदा सुख दें ये अविकल
कृषक चलाये सुख से ये हल
सुखकर रहें लगामों में घोड़े
सुखकर हो इन पर चलते कौड़े।

१७. शुनाशीराविमां वाचं जुषेथां यद् दिवि चक्रथुः पयः।
तेनेमामुप सिञ्चतम्।।

सुनो इन्द्र हे, अरे सुनो पवन
दोनों देवता मेरे ये वचन
जो संचित है नभ में जल
उससे सींचो मेरे खेत समुज्ज्वल।

१८. अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलाससि।।

हे हल की देवी गड़ो धरा में
करते हैं हम सब तेरा वन्दन
तुम देती रहो हमें सदा अन्न धन
देती रहना हमें सफल जीवन।

१९. इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्।।

इन्द्र ! आओ और करो स्वीकार
यहाँ हल की देवी को साकार।
पूषा देव चले उसके पीछे
जल से इस धरती को वह सीचें।

२०. शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्।।

ऋग्वेद ४/५७

सुखमय हों हल के फाल हमारे
सुखमय बैल सदा हाँके हलवाहे
पर्जन्य मधुर जल से खेत हमारे
रहे सींचता और हरे दुख सारे।

◆◆◆

(४) गायें

२१. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन् तसीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावती: पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहाना:।।

गायें आयें घर हमारे
सिद्ध करें वे मंगल सारे
बाड़े के भीतर आयें गायें
और सदा आनन्द मनायें
बाड़े के भीतर वे आकर
भाँति भाँति के धर रूप मनोहर
बैठें बछड़ो वाली गायें
इन्द्र के लिये प्रभात होते ही
वे फिर अपना दूध दुहाएँ,

२२. इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति।
भूयो भूयोरयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्।।

यज्ञ किया करता है जो नर
इन्द्र भर देता उसका घर
दे देकर धन उसको बार बार
सुखमय कर देता उसका संसार
अक्षय कर देता है उसका धन
सम्पन्न बना देता उसका जीवन

२३. न ता नशन्ति न दभाति तस्करो जासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभि: सचते गोपति: सह।।

पास हमारे रहे सदा ये गायें
तस्कर चोर न कभी उन्हे हर पायें
शस्त्र शत्रु के छू न सके इनके तन
वह जो, यज्ञ इन्द्र का करने वाला
बना रहे वह सदा सदा ही ग्वाला।

२४. न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते
न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उदगायममयं तस्य ता अनु
गावो मर्तस्य विचरन्ति यज्वन:।।

धूल उड़ाता हमला करता घोड़ा
इन गायों तक पहुँच न पाये।
देह काटने वाला शस्त्र कहीं से
इन गायों को काट न पाये।
यजनशील के विस्तृत आँगन में सब
निर्भय रहे सुरक्षित सारी गायें।

२५. गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान्
गाव: सोमस्य प्रथमस्य भक्ष:।
इमा या गाव: स जनास इन्द्र
इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्।।

गायें बन जायें मेरा सारा धन
इन्द्र मुझे कर दे ये गायें अर्पण।
गायो से पाई हवि से कर पायें
नित्य सोम का भी हम सब आराधन।
इन्द्र का ही है रूप ये सब गायें
इन गायों की हम करें कामनाएँ।

२६. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं
चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथा भद्र वाचो
बृहद्वो वय उच्यते सभासु।।

गायों ! स्नेह सदा हम पर बरसाओ
अशुचि को शुचि, सुन्दर करती जाओ
हे शुभ वाणी वाली गायों आकर
मंगलमय कर दो ग्वाले का यह घर
तुम से ही जो पाया सारा भोजन
बाटें सदा सभा में हम प्रसन्न मन।

२७. प्रजावती: सूयवसं रिशन्ती:
शुद्धा अप: सुप्रपाणे पिबन्ती:।
मा व: स्तेन ईशत माघशंस:
परि वो हेती रुद्रस्य वृज्या:।।

गायों ! सँग बछड़ो के तुम प्रसन्न मन
सुखकर भूसा सब पाओ प्रतिदिन
तालाबों मे पीने का जल सुखकर
मिलें तुम्हें, छू न सके तुम को तस्कर।
बाघ कभी भी तुमको मार न पाये
आयुध अमर रुद्र का तुम्हें बचाये।

२८. उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये।।

ऋग्वेद, ६/२८

गायों तक पहुँचे आराधन
इन्द्र ! तुम्हारा वीर्य साँड वह पाये।
जो गायों में करता गर्भस्थापन
तुम्हें समर्पित इनसे पाया भोजन।

◆◆◆

(५) श्रमगीत

२९. नाना नं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तथा रिष्टं रुतं भिषग ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्द्रो परि स्रव।।

भाँति भाँति की होती है लोगों की मति
भाँति भाँति के होते हैं लोगों के व्रत।
चाहा करता है बढइ रथ का टूट जाना
चाहा करता है वैद्य रोगी का आना
चाहा करता है पुरोहित यजमान को पाना।
इन्द्र हो तुम सोम, इन्द्र के लिये चुओ।

३०. जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्
कार्मासे अश्मभिर्द्युभि –
र्हिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्रायेन्द्रो परि स्रव।

पके काष्ठों से, चिड़ियों के पंखों से
चमकदार पत्थर से
तीर बनाता है लुहार घिस घिस कर
और ढूँढता है पैसे वालो को
इन्द्र हो तुम सोम, इन्द्र के लिये चुओ।

३१. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्द्रो परि स्रव।।

मैं कवि भी हूँ और बढई भी
मेरे पिता करते हैं वैदगिरी
चलाती है मेरी माँ चक्की
इन्द्र हो तुम सोम, इन्द्र के लिये चुओ।

३२. अश्वो वोळहा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्द्रो परि स्रव।।
(ऋग्वेद, ९.११२)

घोड़े सुख से रथ को लेकर दौड़ें
बाँस चाह रहा है उगते रोएँ
संगी चाह रहे हँसी और ठठ्ठा
मेढक जल को पाना चाह रहा है।
इन्द्र हो तुम इन्द्र के लिये चुओ।

◆◆◆

(६) अरण्यानी

३३. अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती।।

अरण्यानी, अरण्यानी !
कहाँ छिप जाती हो हमें देखकर ?
गाँव का रास्ता पूछती नहीं हो
जानती भी नहीं हो और
कि क्या होता है डर ?

३४. वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते।।

साँड़ डकारता है इधर
देती है उसको उत्तर
झिल्ली कर के झंकार
एक साथ कई बीजों में स्वर
देती हो भर अरण्यानी !
कितनी बड़ी होती जाती हो तुम !

३५. उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते।
उता अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति।।

गायें चरती हैं घास कहीं पर
बना दिया तुमने झाड़ झंखाडों के घर
संझा को जब चलते हैं छकड़े चूँ चररमरर
तुम विदा उन्हें देती हो हौले, हौले,
ओ अरण्यानी !

३६. गामङ्गैष आह्वयति दार्वङ्गेषो अपावधीत्
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते।।

वह अपनी गैया को टेर रहा है
और यह काट रहा है लकड़ी।
संझा तक जो ठहरे रह जाओ अरण्यानी में
लगता है, टेर रही है —— अरण्यानी !

३७. न वा अरण्यानिर्हिन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते।।

कभी न किसी को दुःख नहीं देती अरण्यानी
चोर – लुटेरों को कर देती दूर।
जो भी इसके पास चला आये
मीठे फल उसको दे देती भरपूर।।

३८. आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्।।

वही, १०/१४६

कस्तूरी की गन्धबसी सुरभित
अन्नमयी, पर खेती जिसमें रहती बन्द।
सब पशुओं की माँ उस अरण्यानी की
स्तुति में मैंने रच डाले ये छन्द।

◆◆◆

(७) देवी रात

३९. रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः।
विश्वा अधिश्रियोऽधित।।

रात की देवी आती है
हजार नयनों से निहारती है
हमको
हर शोभा से सँवारती है
वह निज को।

४०. ओर्वप्रा अमर्त्यानिवतो देव्युद्वतः।
ज्योतिषा बाधते तमः।।

रात की देवी ने आते जाते
ऊँचे नीचे सब आकार
अपने तेज से ऐसे भरे जग का सारा अन्धकार
ठेल दिया है परे।

४१. निरुस्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती।
अपेदु हासते तमः।।

रात की देवी ने आकर
बहन उषा को देकर अवकाश
अन्धकार को परे हटा कर
फैला दी जग में निर्मल उजास।

४२. सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि।
वृक्षे न वसतिं वयः।।

ओ रात देवी, हमारे पास आओ
गोद में अपनी हमें तुम सुलाओ।
पंछी सोयें जैसे अपने अपने
घोंसलों में सुखी और निश्चिन्त बने।

४३. नि ग्रामा सो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः।
नि श्येनासश्चिदर्थिनः।।

रात की देवी, तुम आयीं
गाँव के लोग घर लौट आये
लौट आये सारे चौपाये
पंछी लौट आये नीड़ों पर
बाज लौट आये पेड़ों पर।

४४. यावया वृक्यं वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये।
अथा नः सुतरा भव।।

ओ रात देवी !
हिंसा से हमें बचाना
बचाना हमें चोर से, चोरी से
बचाये रखना हमें भेड़िये से
इस अँधियारे की काली नदिया से
हमको पार कराना।

४५. उप मा पेपिशत्तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित।
उष ऋणेव यातय।।

काला घना लपेट रहा है
सब ओर हमें अँधियारा
ओ रात देवी, दिला दो छुटकारा
इस अँधियारे से अपनी उजास के द्वारा
मुक्ति पाये जैसे ऋण से दाता के द्वारा
ऋणी कोई विपत् का मारा।

४६. उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः।
रात्रि स्तोमं न जिग्युषे।।

वही १०/१२७

ओ द्युलोक की कन्या
स्वीकार करो यह स्तुति जो मैंने की है ऐसे
कोई गाय रँभाये जैसे
विजयी का यश कोई गाये जैसे।

◆◆◆

(८) पर्जन्य

४७. अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नभसा विवास।
कनिक्रदद् वृषयो जीरदानू रेतो दधात्योषधीसु गर्भम्।।

आओ वर्षा के देवता का करें स्तवन
ऋचाओं में प्रार्थना करें इसे अर्पण
साँड़ की तरह गरज गरज कर
वनस्पतियों में गर्भ स्थापित कर
सरसा देता पौधों को
लहका देता यह पेड़ों को।

४८. वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं विभाय भुवनं महावधात्।
उताना गा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः।।

पेड़ों पर यह वज्र गिरा कर
तहस नहस उनको कर देता
असुरों का सब बल हर लेता
भेज भेज कर मेघों के दल
यह सारा जग थर–थर–थर–थर
इसके आगे काँपा करता,
फेंकता है जब यह अमोघ अस्त्र
वेग से अपना मेघों के ऊपर
तुरत छोड़ते वे चिल्ला कर
जल, जो रोका रखा था भीतर।

४९. रथीव कषयाश्वां अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्यां अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः।।

जैसे मार मार कर कोड़े
सारथी भगाये रथ के घोड़े
ऐसे ही मार मार बिजली के कोड़े
हाँक दिये बादल इसने, देखो वे सरपट दौड़े
बारबार करता है देखो कैसी दहाड़
सिंह सा, चींथ देता बादलों के पहाड़।

५०. प्रवाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति।।

हवाएँ बहती हैं इसके संकेतों पर
कभी बहुत तेज, कभी मन्थर
कौंध कौंध उठती है बिजली
लपलप करती, इसके कहने पर।
जब यह आकाश का प्याला उठा कर
औंधा देता उसको धरती पर
बन जाती वह अबन्ध्य और फलपुष्पमयी फिर
जब यह अपने पौरुष से उसका उदर सींच कर
स्थापित करता अगणित बीज फलों के उसके भीतर।

५१. यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति।
यस्य व्रत औषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ।।

धरती झुक झुक आती भीगी भीगी इसकी आज्ञा पर
खुर वाले पशु रँभा रँभा उठते डकार उठते इसके संकेतों पर
कितनी जड़ी बुटियाँ अँकुरा उठती इसके इंगित पर
यह पर्जन्य हमें समृद्धि दे, वृद्धि करे, रहे रक्षक।

५२. दिवा नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः।
अर्वाङ्तेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः।।

ओ मरुत ! सँभला दो हमको वर्षा का बरतन नभ से उतार कर
घोड़ों से हाँक बादलों के दल, बहाओ जलधाराएँ
गरज गरज कर छींटो प्यासी धरती पर तुम जल
इसी ओर बढ़ते आओ, छाये रहो नभ पर हल पल।

५३. **अभि क्रन्द स्तनय गर्भ मा धा उदन्वता परि दीया रथेन।**
दृतिं सु कर्ष विंषितं न्यञ्चम् समा भवन्तुद्वतो निपाताः।।

ऋग्वेद, ५/८३

धरती की ओर मुखमोड़ लगाओ पुकार, सुनो गुहार
गर्भ स्थापित करो वनस्पतियों में, भिगो दो सारा जग फिर एक बार।
बादल के घोड़े पर बैठ लगाओ चक्कर तुम इधर उधर
खोल दो फिर एक बार, जल की थैली का वह विशाल विवर
यह धरती जी भर कर जल पी ले,
जल ही जल भर जाय और प्यासा यह जग जी ले।

◆◆◆

(९) धरती माँ

५४. **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ: पृथिवीं धारयन्ति।**
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्यूरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।

इस धरती को धारण करते हैं सत्य महान्, ऋतु निष्ठामय
दीक्षा, तप ज्ञान, यज्ञ ये हम मनुजों के सारे गुण।
भूत भविष्यत् की साधक यह महिमामय, धरती
अपने विस्तीर्ण अंक में हमको रहे सदा ही धारण करती।

५५. **असम्बाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।**
नाना वीर्या औषधीर्या बिभर्त्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।।

जिसके आँगन में बना लिये हैं हमने निर्बाध सुरक्षित
अपने रहने को बड़े बड़े घर अगणित।
कितनी औषधियाँ, कितने गुण वाली यह करती है धारण
यह इसी तरह विस्तीर्ण रहे, बने हमारे हित का कारण।

५६. **यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।**
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेयं दधातु।।

जिस पर हैं सागर, नदियाँ नाले जिनमें अपार जल बहता है,
जिस पर उगता है अन्न होती है कृषि, सस्य विपुल बढता है,
जिस पर जीवन पाकर सारा जग रहता है प्राणवान् जंगम और स्थिर
वह धरती माँ दे हमें प्रथम पेय अपने उर का अमृतमय सुमधुर।

५७. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च निष्ठा भगं वर्च: पृथिवी नो दधातु।।

जिस पर कर गये पराक्रम अतुलित पूर्वज पहले के असंख्य वीरवर
जिस पर जीता देवों ने संग्रामों में असुरों को कर संघर्ष निरन्तर।
जिस पर रहती है गौएँ, रहते हैं घोड़े, उडते है पंछी फिरते है चौपाये
वह धरती माँ हम सबके हित सुख सौभाग्य तेज अपना ले आये।

५८. विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम् इन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।।

यह जग का पालन करने वाली वसु की धात्री यह आधार हमारा
यह स्वर्णिम वक्षःस्थल वाली विस्तीर्ण अंक में करती धारण
हमको और जग सारा
यह वैश्वानर, अग्नि समेटे उर में इन्द्र वृषभ सा घूमा करता जिस पर
यह धरती माँ दे समृद्धि हमें अपार, बहा दे सुख की धारा।

५९. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानी देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।

जाग जाग कर रक्षा करते सदा देव अप्रमाद जिस धरती की
अतुलित वैभव वाली जो धात्री है एक अकेली इस जगती की
अपने प्रिय मधु का दोहन कर हमें निरन्तर दे वह
अपना सारा वर्चस् हममें संचारित कर दे वह।

६०. यार्णवेंधिं सलिलमग्र आसीत् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिण:।
यस्या हदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतमभूत् पृथिव्या:
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रेदू दधातूत्तमे।।

जो सागर के मध्य कहीं गहरे जल में पहले थी आप्लावित
कितने छन्दो में कितनी स्तुतियाँ
कवियों ने रच डालीं थीं जिसके हित,
इस धरती माँ का सदा सत्य से आवृत
हृदय परम व्योम तक है विस्तारित,

वह भर दे सम्पूर्ण राष्ट्र में स्फूर्ति शक्ति की,
दे सबको सौभाग्य तेज नित।

६१. यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।

जल आप्लावित करता है सर्वत्र एक सा कण कण को जिस पर
बहता है वह दिन रात गीत की लय में जिस पर
कितनी धाराएँ, कितने प्रवाह, गिरिनिर्झर झरते हैं जिस पर
यह हमें सींच दे अपने जल से अक्षय अतुलित अपने बल से।

६२. यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेनमित्रां शचीपतिः
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः।।

जिसको नापा अश्विनद्वय ने जिस पर चरण विष्णु ने धारे
महिमामय देव इन्द्र ने अपने हित जिस पर असंख्य रिपु संहारे
वह धरती माँ हम सबके लिये करे सदा रस की वर्षा ऐसे
स्नेहभरी माँ बच्चे के हित दूध की धार बहा देती है जैसे।

६३. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।।

ये पर्वत ऊँचे ऊँचे ये विस्तीर्ण अरण्य तुम्हारे
ये सब सुखकर हों हे माँ धरती बने रहे ये सदा हमारे।
यह भूरी काली, लाल, धवल नाना रूपों, आकृतियों वाली
यह अक्षय, अटल, निस्सीम, देवता इन्द्र सदा करता है जिसकी रखवाली
इस धरती पर अविजित, अक्षय और सुरक्षित
मैं रहूँ अधिष्ठित और प्रतिष्ठित।

६४. यत् ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्व संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।।

हे धरती माँ तेरे ऊपर नीचे और भीतर से
जो ऊर्जाएँ अगणित उपजी हैं तेरे तन से
उन सबका हममें कर दे तू स्थापन
ज्योतिर्मय देह, निरन्तर मन बन जाये पावन।
माँ है यह धरती, मै हूँ धरती का बेटा निर्भय
हम सबका पर्जन्य पिता है, हमें पूर्णता दे, बल अक्षय।

६५. यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूयस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वश्वः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुव्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना।।

जिस पर रचते हैं हम छन्द यज्ञ जिस पर होते है निर्बन्ध
जिसपर देते हैं आहुतियाँ, रचते हैं यज्ञों के अगणित स्तम्भ।
वह अन्न प्राणमय धरती, बढती रहे निरंतर
और सदा अभिवृद्धि करे हम सबकी।

६६. त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन् सूर्यो रश्मिभिरातनोति।

तुझ से ही जन्में हम सब तुझी से देह प्राण पा तुझ पर आये
तू ही करती है धारण सारे मनुष्य पशु दो पाये चौपाये।
हम मानव तेरे आगे सदा प्रणत तुझ से ही हम हुए समुन्नत
अमृतमय किरणों से उगता सूरज जिनको सींच दिया करता नित।

६७. भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयाऽन्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं सा पृथिवी कृणोतु।।

इस धरती पर वाणी से यजन किया करते है हम कवि
देवों को करते हैं अर्पित हम उत्तम रचनाओं की हवि।
यह धरती है वसुन्धरा, दे यह हमें अक्षय जिजीविषा भी
इस पर रह कर हम बूढें हों, जीवित हों बूढें रह कर भी।

६८. शिलाभूमिरश्मा पांसुः भूमिः सन्धृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामवच्छावदामसि।।

चट्टानों, प्रस्तरों, धूल मिट्टी से निर्मित है यह धरती
यह स्थिर है सामर्थ्यमयी यह स्वर्णिम वक्षःस्थलवाली।
बार बार है यह प्रणम्य, यह पुण्यमयी माँ धरती
जिस पर वृक्ष लताएँ अगणित उगती बढती।
यह धरती जो अब भी स्थिर है हमको धारण करने में सुख माने
शत शत करती है वन्दन इसको हम मनु की सन्तानें।

६९. उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्।।

खड़े हुए बैठे स्थिर यह चलते
अपने दायें या बायें पाँवों से
हम न कष्ट दें इस धरती को

७०. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु।।

जिस पर गाते हैं हम और उमग उमग कर नाचा करते हैं
अगणित अपने भावों को मुद्राओं में जाँचा करते हैं।
जिस पर हम करते हैं युद्ध रोष से विद्ध गरजते
जिस पर होता है कोलाहल, दुंदुभियों के नाद निकलते।
यह भूमि दूर कर शत्रु हमारे,
निर्भय, शत्रुंजय, कर हमको धारे।

७१. निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधतु सुमनस्यमाना।।

नाना निधियों को, कई गुफाओं में जो धारण करती है
मणिमाणिक्य, हिरण्य, सम्पदा, रहे सर्वदा वितरित करती।
यह धन देने वाली, सुखदा, आनन्दमयी माँ धरती
शस्य सम्पदा से आपूरित, रहे अन्न की वर्षा करती।

७२. ये ग्रामा यदरण्यं या: सभा अधि भूभ्याम्।
ये सङ्ग्रामा: समितयस्तेषु चारु वदेम ते।।

अथर्ववेद १२/१

जो गाँव और जंगल हैं धरती पर
और सभाएँ जो होती हैं इस पर
जो होते है संग्राम समितियाँ
उन सब में हम सुन्दर ही बोलें
धरती माँ, तुझको लेकर

•••

(१०) घर परिवार

७३. चलत्काष्ठं गलत्कुड्यमुत्तानतृणसञ्चयम् ।
गण्डूपदार्थिमण्डूककीर्णं जीर्णं गृहं मम ।।

अज्ञात, सकमृ. – २२४६

यह मेरा घर है
बल्लियाँ हिलती रहती है इसमें
भीतें गल रही है इसकी
घास ऊँची हो रही है इसमें
बिलबिलाते केचुओं को
ढूँढते मेंढक
हर कही इसमें मिल जायेगें
बहुत पुराना घर है मेरा।

७४. हस्तप्राप्यतृणोज्झिताः प्रतिपयोवृत्तिस्खलद्भित्तयो
दूरालम्बितदारुदन्तुरमुखाः पर्यन्तवल्लीवृताः ।
वस्त्राभावविलीनसत्रपवधूदत्तार्गला निर्गिर–
स्त्यज्यन्ते चिरशून्यविभ्रमभृतो भिक्षाचरैर्मद्गृहाः ।।

अज्ञात, वही, २२४७

यह मेरा घर है
हाथ में आया तिनका भी
टिक नहीं पाता इसमें रहकर
हर बरसात में इसमें दीवारें ढहती जाती है

बहुत नीचे तक झुक आई बल्लियों से
दाँत निपोरता है मेरा घर।
चारो और से इसे जकड़ रखा है बेलों ने।

भीतर ही भीतर डोलती है, दुबकी सी रहती है–
इस घर की बहू
तन पर कपड़ों की कमी के क़ारण
वह झट से चढा देती है साँकल
जब भी मै जाता हूँ इस घर से बाहर, या आता हूँ बाहर से घर में।
बोलता नहीं है यह घर
गूँगा सा घर है मेरा।
बहुत समय से बंद हैं इसकी किलकारियाँ
बहुत समय से पसरा है इसमें सूनापन।
बहुत दूर से इसे देख कर
आगे बढ जाते है भिखमंगे।

७५. धूमेन रिक्तमपि निर्भरवाष्पकारि
दूरीकृतानलमपि प्रतिपन्नतापम्।
दैन्यातिशून्यमपि भूषितबन्धुवर्ग–
माश्चर्यमेव खलु खेदकरं गृहं नः।।

जलचन्द्र, वही, – २२४९

धुआँ नहीं उठता इस घर में
पर आँखो में बहुत उमड़ते रहते हैं आँसू
आग नहीं जलती है इस घर में
पर ताप बहुत है भीतर इसके।
दलिद्दर के कारण बहुत खोखला है यह घर
पर हम बन्धुजनों का गहना धरती तो है ही
है तो यह बहुत खेदकर
फिर भी अचरज भरा तो है हमारा घर।

७६. उत्सन्नच्छदिरुच्छ्वद्वृति गलद्भित्ति स्खलन्मण्डलि
भ्राम्यत्कुण्डलि हिण्डदाखु खुरलिप्रक्रीडिभेकावलि।
चञ्चच्चर्मचरौघपक्षतिपुटप्रारब्धभाभांकृति

श्रीमत्सेनकुलावतंस भवत: शत्रोरिवास्मद्गृहम्।।
सोह्नो, वही, २२५०

ढह गई है छत
दरक गई है नींव
ढह रही है दीवारें
टूट रही है दीवारें
धसक रही है धरन
रेंगते है साँप इसमें
सैर करते हैं चूहे
छुआ–छाई खेलते हैं मेंढक
चंचल चमगादड़ों के झुंड
उड़ते हैं पंख फैलाये उससे
भाँय भाँय की आवाज फैलती है
राजन्, हमारा घर ठीक वैसा ही है
जैसा होना था आपके शत्रु का।

७७. मद्गेहे मुसलीव मूषिकवधूर्मूषीव मार्जारिका
मार्जारीव शुनी शुनीव गृहिणी वाच्य: किमन्यो जन: ?।
किञ्च क्षुत्क्लमघूर्णमाननयनैरुन्निद्रमुर्वीगतै:
कर्तुं वाग्व्ययमक्षमै: स्वजननी बालै: समालोक्यते।।
दुर्गत, वही, २२२९

मेरे घर में
छिपकली जैसी है चुहिया
चुहिया जैसी है बिल्ली
बिल्ली जैसी है कुतिया
कुतिया जैसी है पत्नी
और बाकी के लिये क्या कहूँ ?
धरती पर बिलखते बिलबिलाते
उचटी नींद वाले
भूख से अशक्त, पर कुछ कह पाने में असमर्थ
बच्चे ताकते हैं
अपनी माँ को।

७८. यावद् दुःस्थकुटुम्बिनीकरतलस्पर्शात् समालोक्यते
तत् तत् क्षुद्रकणादि रक्षणधिया घोरं घने वर्षति।
तावज्जीर्णकुटीरकोटरविशत्सौदामनीदीपितं
दृष्ट्वा तूलकजालमाविलजलाकीर्णं मुहुर्मूर्च्छति।।

योगेश्वर, वही – २२४२

घर के भीतर है विकट अंधेरा
घोर घन बस रहे है बाहर
गरीब की घरवाली हथेली से टटोल टटोल कर
देखती है थोड़े से दाने नाज के
और छोटी मोटी चीजें
जिन्हें बचाने को वह करती है जतन
तब तक
इस टूटी झोपड़ी में छेद से घुस पड़ी है बिजली
जिसकी चमक में
वह देखती है भीग कर मटियामेट हुआ ढेर रुई का
और मूर्च्छित हो कर गिर पड़ती है वह।

७९. **तस्मिन्नेव गृहोदरे रसवती तत्रैव सा कण्डनी**
तत्रोपस्करणानि तत्र शिशवस्तत्रैव वासः स्वयम्।
एतत् सोढवतोऽपि दुःस्थगृहिणः किं ब्रूमहे दुर्दशा
मद्यश्वो विजनिष्यमाणगृहिणी तत्रैव यत् कुन्थति।।

वैनतेय, सुभा. १३१०

इस एक कुठरिया के भीतर
समा गया है सारा का सारा घर।
यहीं ओखली, यहीं रसोई
यहीं सब का सब सामान गृहस्थी का
बच्चों का जमघट, यहीं ओढना, यहीं बिछोना
यह सब सहता ही आया है गरीब घरवाला अब तक
पर अब जो दुर्दशा है— क्या कहें उसका
घरवाली भी यहीं कराह रही है वह
आज ही कल में जिसको जनना है बच्चा।

८०. इदानीमर्घन्ति प्रथमकलमच्छेदमुदिता
नवीनान्धस्थालीपरिमलमुचो हालिकगृहाः।
उदञ्चद्दोर्लीलारणितवलयाभिर्युवतिभि-
गृहीतप्रोत्क्षिप्तभ्रमितमसृणोद्गीर्णमुसलाः।।

योगेश्वर, सकमृ० १३३७

मोल बढ गया है हलवाहे के घर का
धान की पहली कटाई से प्रसन्न है घर भर
यह नवान्न से भरी हुई थाली गमक रही है
लड़कियों ने उठा लिये है मूसल
लहरा कर उठते हैं हाथ ऊपर
खनक उठते है कंगन
जब घुमाकर वे चलाती हैं मूसल।

८१. आलोकत्रस्तनारीकृतसभयमहानादधावज्जनौघ
व्याप्तद्वारप्रदेशप्रचुरकलकलाकर्णनस्तब्धचक्षुः।
कष्टं दण्डं गृहाणेत्यतिमुखरमुखैस्ताडितो लोष्टघातै-
र्भीतः सर्पो गृहस्यानधिगतविवरः कोणतः कोणमेति।।

दिविरकिशोरक, सुभा०, २४२१

घर की स्त्रियाँ डर के मारे चीख उठी हैं उसे देख कर
दौड़ते लोगों की भीड़ से घिर गया है द्वार
हो हल्ले को सुन कर स्तब्ध हैं उसके नेत्र
"अरे डंडा लाओ", "डंडा लाओ" यह कह कर
मार रहे हैं लोग उसे पत्थर
घबराया साँप, कोई विवर न पा कर
घर के उस कोने से उस कोने तक भाग रहा है।

८२. स्थूलप्रावरणोऽतिवृत्तकथनः कासास्रुलालाविलो
भग्नोरःकटिपृष्ठजानुजघनो मुग्धोऽतिथीन् वारयन्
शृण्वन् धृष्टवधूवचांसि धनुषा सन्त्रासयन् वायसा--
नाशापाशनिबद्धजीवविभवो वृद्धो गृहे ग्लायति।।

सिल्हणशतक, पद्यरचना - ५७९

मोटी ओढनी लपेटे
बहुत बक बक करता
कफ, आँसू और लार में लिथड़ा
टूटी देह, टूटी कमर, टूटी पीठ, टूटे घुटने और
टूटी पिंडिलियो वाली जंघा वाला
भोला है यह बूढ़ा
टोकता रहता है घर में आने वालों को
सुनता है ढीठ बहुओं को जली–कटी
कोओं को भगाता है धनुष से
आशा के पाश में बँध कर अटका है उसके जीवन का वैभव
अपने ही घर में खत्म हो रहा है बूढा।

८३. **जातोक्षोत्सुकगृष्टिभीषितशिशुत्रसार्तनारीगणाः**
खिन्नास्तीर्णनवीनशालिसुरभिस्फीतोपलिप्ताजिराः।
नेदीयः खलमृद्यमानमृदितस्तूपीकृतव्रीहयः
पान्थप्रार्थ्यपलालगोपनपराः प्रोयोऽद्य पल्लीर्गृहाः।।

विरञ्चि सकमृः १३५४

हलचल है अब
बस्ती के हर घर में
उत्सुक हैं बैल
गायों के लिये
डराती हैं गायें
बच्चों को
बच्चों के त्रास से
घबरा गई हैं घर की स्त्रियाँ
लिपे हुए आँगन में
नये चावल कुट कर बिछ रहे हैं
सुगंध फैल रही है कुटे चावलों की
पास में खल में कुचले जा रहे है चावल
खड़े हो रहे हैं चावल के पहाड़
आ जुटे हैं बटोही
मांगने को पुआल
छिपा कर रख रहें है हलवारे पुआल

८४. पीठाः कच्छपवत् तरन्ति सलिले सम्मार्जनी मीनवद्
दर्वी सर्पविचेष्टितानि कुरुते सन्त्रासयन्ती शिशून्।
शूर्पार्द्धावृतमस्तका च गृहिणी भित्तिः प्रपातोन्मुखी
रात्रौ पूर्णतडागसन्निभममूद् राजन् मदीयं गहम्।।

सूक्तिमंजरी, पृ. ७५

मूड़े कछुवो से तैर रहे थे
झाडू था मछली सा
चम्मच बच्चों को डरा रही थी
सर्प सरीखी बल खाती
सूप का आधा टुकड़ा सिर पर सँभाले रही घरवाली
भीत गिरने गिरने को थी
राजन्, रात में
भरी तलैया था घर हमारा।

८५. क्रोशन्तः शिशवः सवारि सदनं पङ्कावृतं चाङ्गणं
शय्या दंशवती च रूक्षमशनं धूमेन पूर्णं गृहम्।
भार्या निष्ठुरभाषिणी प्रभुरपि क्रोधन पूर्णः सदा
स्नानं शीतल वारिणा हि सततं धिग् धिग् गृहस्थाश्रंसम्।।

सुरत्ना., पृ. ११२

चीखते बच्चे
पानी के चहबच्चे
कीचड़ से पटा आँगन
कीड़ो से भरे बिस्तर
रूखा भोजन और धुएँ से
भरा हुआ घर
निष्ठुर वचन बोलती पत्नी
मालिक सदा ही भरा क्रोध से
और नहाना शीतल जल से
भर पाये हम
इस गृहस्थाश्रम से।

८६. वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रुश्चिरं रौदिति।।

अज्ञात, सूमु. ०१२७/१२ दशरूपकावलोक ४/१४ से भी उद्धृत

बुढउ अंधे हो चुके हैं
पड़े रहते हैं खटिया पर।
घर का
छप्पर उड़ चुका है
खड़े हैं खम्मे।
बरसात सिर पर हैं,
कोई खबर नहीं
परदेस गये बेटे की।
बड़े जतन से
बचा बचा कर
किया इकट्ठा
कुप्पी भर जो तेल
टूट गई है कुप्पी
दिन चढे हैं बहू को
देख कर उसे
सास रोती रहती है जार जार।

८७. बीहिः स्तम्बकरिः प्रभूतपयसः प्रत्यागता धेनवः
प्रत्युज्जीवितभक्षणा भृशमिति ध्यायन्नपेतान्यधीः।
सान्द्रोशीरकुटुम्बिनीस्तनभरव्यालुप्तघर्मक्लमो
देवे नीररमुदारमुज्झति सुखं शेते निशा ग्रामणीः।।

योगेश्वर, सकमृ. ८९३

देव बहुत उदार हो कर बरस रहे हैं बाहर
और लौट आई है दुधारू गायें वापस घर।
हो चुका उनका अच्छी तरह चारा पानी
अब कुछ सोचने को नहीं रहा
यह सोचता है

और गाढे खस के लेप से महकते वक्ष वाली
घरवाली को लिपटा कर झटक देता है घाम की थकान
सोता है सुख की नींद
गांव का पटेल।

८८. भासार्कस्य हतप्रमं विकिरणैर्धूघमायमानं मनाक्
निर्वाणैः स्वजनाञ्चलावलयितं स्वैर्भस्मनां राशिभिः।
किञ्चिच्छेषनिशातुषारमधुरस्पर्शं गृहस्याङ्गणे
शय्योत्थायमिह व्रजन्ति हलिनां बालाः कुकूलानलम्।।

भोज द्वारा शृङ्गारप्रकाश - १६ में उद्. ६३६

मुँह अँधेरे
टपकता है ओस
बहुत सुहाती सुहाती लगती है
घर के आँगन में सुलगी आग कोड़े के पलके की
उगते सूरज की किरणों से
वह फीकी पड़ रही है
वह धुँधवा रही है बिखर कर
बुझे बुझे राख के घेरे उसके आंचल से
अपने लोगों की तरह लिपटते हैं
बिस्तर से उठ कर सीधे
भगते आते है बच्चे किसानों के
इसी आग के आगे।

•••

(११) गृहिणी

८९. कुम्भीसञ्चिततण्डुलाः प्रतिदिनं नीताः क्षयं मूषिकै –
वास्तुष्वेव पिशङ्गितोदरतलाः शीर्यन्ति वार्ताकवः।
जीर्णं जालकमारनालपिठरीगर्भे च काकारवं
दीनायाः पथिकस्त्रियाः प्रियतमप्रत्यागमाकाङ्क्षया।।

अज्ञात, वही, २२४३

घड़े में बचा कर रखे हुए चावल
रोज रोज चट करते जा रहे हैं चूहे
घर में रखे रखे पीलेपड़ कर सड़ गये है बैगन
फटा है परदा
कांजी के गुंड के भीतर से
उठती है कौए की आवाज
बटोही की घरवाली
प्रिय के घर लोट आने की
मनौती माँगती रहती है।

९०. वैराग्यैकसमुन्नता तनतनुः शीर्णाम्बरं बिभ्रती
क्षुत्क्षामेक्षणकुक्षिभिश्च शिशुभिर्भोक्तुं समभ्यर्थिता।
दीना दुःस्थकुटुम्बिनी प्रविगलद्वाष्पाम्बुधौतानना-
प्येकं तण्डुलमानकं दिनशतं नेतुं समाकाङ्क्षति।।

अज्ञात, वही – २२४४

जब वह पूरी तरह बैरागन बन चुकी है
उसका तन गल रहा है
तन पर के कपड़े चिथड़े हो रहे है
भूख से कुम्हलाई दृष्टि और पिचके पेट वाले
उसके बच्चे
उससे करते है निहोरा
कुछ खाने के लिये।
दीन बन गई है वह,
लगातार बहते आँसुओ से,
धुला है उसका चेहरा
गरीब की घरवाली
एक पसेंरी चावल से
काट देना चाहती है सौ दिन।

९१. सक्तून् शोचति सम्प्लुतान् प्रतिकरोत्याक्रन्दतो बालकान्
प्रत्युत्सिञ्चति कर्परेण सलिलं शैयातृणं रक्षति।
दत्वा मूर्धनि शीर्णशूर्पशकलं जीर्णे गृहे व्याकुला
किं तद् यन्न करोति दुःस्थगृहिणी देवे भृशं वर्षति।।

लंगदत्त, सुरको – १३१२

भीग कर बह रहे बहू पर शोक कर रही है
चिल्लपौं मचाते बच्चों को चुप करा रही है
चिथड़े से चहबच्चे सुखा रही है पानी के
बचा रही है बिस्तर पुवाल का
इस चूते टपकते पुराने घर में
टूटे सूप का सिर पर सँभाले टुकड़ा
क्या क्या नहीं कर रही है गरीब की घरवाली
जब कि देव बहुत जोर से बरस रहे है बाहर।

९२. आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुल्लङ्घ्यदुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषवाष्पतरलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्वा पीलु-शमी-करीर-कवलान् स्वेनाञ्चलेनादरा-
दामृष्टं करभस्य केशरसटाभारावलग्नं रज।।

केशट, सुरको. – ५१२

मरुस्थल की धरती की
लाँघ कर अलंघ्य दूरियाँ
लौट आया है घरवाला।
घरवाली सुख में भीजी आँखों से उसका मुख निहार कर
झट से पीलू, शमी और करीर के कौर बना कर
खिलाने लगी है उसके ऊँट को बड़ा मान देकर
फिर अपने आँचल से वह पौंछ रही है
ऊँट के रोओ में चिपटी हुई धूल।

९३. एतास्ता दिवसान्तभास्करदृशो धावन्ति पौराङ्गनाः
स्कन्धप्रस्खलदंशुकाञ्चलधृतिव्यासङ्गबद्धाधराः।
प्रातर्यातकृषीवलागमभिया प्रोत्प्लुत्य वर्त्मच्छिदो
हट्टक्रीतपदार्थमूल्यकलनव्याग्राङ्गुलिग्रन्थयः।।

शरण, सकमृ. २००५

वे डूबते हुए सूरज की ओर ताकती हैं
और तेज कर देती है चाल अपनी
दौड़ रही हैं वे
कधों से सरकते पल्लू को खींच कर औंठ से दाबती हुई
वे डरती है सवेरे के गये किसान घर लौट कर आने को होगें
वे उछल कर काटती है गैल
हाट में खरीदी चीजो के मोल जोड़ने में
अँगुलियो के पौर उनके व्यग्र हैं लगातार
घरवालियाँ लौट रही हैं घर की ओर।

९४. एताश्चन्द्रोदयेऽस्मिन्नविरलमुसलोत्क्षेपदोलायमान-
स्निग्धश्यामाग्रपीनस्तनकलशनमत्कण्ठनालाग्ररम्याः।

उद्वेल्लद्बाहुवल्लीप्रचलितवलयश्रेणयः पामराणां
गेहिन्यो दीर्घगीतिध्वनिजनितसुखास्तण्डुलान् कण्डयन्ति ।।

शरण, वही, २००३३

तेजी से उठते हैं, गिरते हैं मूसल
उठते हैं, गिरते हैं हाथ
डोलते हैं चिकनी सांवली बुँदकी वाले
कलश जैसे पुष्ट वक्ष, साथ में
झुकती है गरदन कमलनाल सीं
हाथ के उठते ही थिरकती हैं कँगनो की कतारें
गीतों की लंबी कड़ियाँ देती हैं सुख
चाँदनी रात में
धान कूट रही हैं
पामरो की घरवालियाँ।

९५. **गेहाजिरेषुनवशालिकणावपात-**
गन्धानुभावसुभगेषु कृषीवलानाम् ।
आनन्दयन्ति मुसलोल्लसनावधूत-
पाणिस्खलद्वलयपद्धतयो वधूट्यः ।।

काव्यमीमांसा में राजशेखर द्वारा उद्धृत

नये धान का ढेर लगा है
घर के आँगन में
फिर किसान की बहुओं ने उठा लिया है मूसल
हाथों के उठने गिरने से खनक उठे हैं उनके कंगन
कूट रही हैं वे धान धमाधम
करती हैं आनन्दित।

(१२) बच्चे

९६. कियन्तोऽमी डिम्भाः लघुलगुडहस्ताः प्रतिवनं
भ्रमन्तो गोपश्चाद् दिशि दिशि विसृष्टास्त्रिचतुरान्।
कथञ्चित् सम्प्राप्ते मृतशशकभागेऽथ लगुडै-
र्घ्नतोऽन्योन्यं ते वौ विगलदसृजो यान्ति सदनम्।।

शंकर मिश्र, रसार्णव, २२९

निकल पड़े हैं छोकड़े कितने सारे
हाथों में छोटी छोटी लाठियाँ सँभाले
तीन या चार की टोली में
वे घूम रहे हैं जंगल जंगल
गायों के पीछे
देखते ही खरगोश कोई
वे मार डालते हैं उसे लाठियों से
फिर झगड़ कर पीटते हैं एक दूसरे को
खून बहाते हुए
खरगोश का अपना हिस्सा उठाये हुए
लौटते हैं घर।

९७. पङ्काक्तैरधरीयवस्त्रविहितोष्णीषैर्जयाकाङ्क्षिभि:
केदारेषु नवाम्बुमत्तविगलद्भेकेष्वटित्वा चिरम्।
कोशाग्रग्रथितैकमात्रशफरीमात्रोपहारैरलं
जल्पद्भिर्निजपौरुषाणि जननी डिम्भै: क्षणं हास्यते।।

वही, २३०

परधनिया का
फैंटा ऊपर कस कर बाँधे
कीचड़ में लथपथ
वे निकल पड़े हैं विजय अभियान पर
खेत की क्यारियों में
जहाँ हाल में हुई बरखा से बौराये
सर्राते हैं मेढक
वे घूमते हैं बड़ी देर तक।
फिर जेब में किसी तरह मिली एक मछली का
उपहार भर सभाले
घर आकर माँ के आगे
बखानते हैं अपना पौरुष
माँ को हँसा लेते हैं एक क्षण।

९८. रथ्यारजोरुणित धूसरिताङ्गयष्टे
कच्चित् पितु: स्मरसि पुत्रक निर्घृणस्य।
उक्त्वैवमङ्कगतमर्भकमायताक्ष्या
पान्थस्त्रिया प्ररुदितं करुणं दिनान्ते।।

अज्ञात, सुभाषितावलि, १११५

गली की धूल से मैली ललछौंही काया है तेरी
बेटा, याद भी कभी आती है तुझे अपने निर्दय पिता की ?
दिन ढल जाने पर
बच्चे को छाती से चिपटा कर
बड़ी बड़ी आँखो वाली
इतना बोली
बटोही की घरवाली
और रो पड़ी फिर फूट फूट कर।

९९. क्षुत्क्षाम: कुलपुत्रको मम गृहं पृच्छन् कुतोऽप्यागत-
स्तत् किं गेहिनि तेऽस्ति किञ्चिदशनं यच्छामुना भुज्यते।
वाचास्तीत्यभिधाय नास्ति च पुन: प्रोक्तं विनैवाक्षरै:
स्थूलस्थूलविलोललोचनलुठद्वाष्पाम्भसां बिन्दुभि:।।

अज्ञात, सूमु० १२७/७, सुभाषितहारावली - ८४८

सुनो घरवाली,
घर की खबर लेता हुआ कहीं से
भूख से दुबलाया मेरा कुलपुत्र आया है
कुछ खाने को होगा ?
दे दो इसे, खा लेगा।
"हाँ", "हाँ" कहा घरवाली ने मुँह से,
पर कह दिया — नहीं है— बिना कहे ही
भर आये नयनों से गिरती बड़ी बड़ी आँसू की बूँदो से।

१००. केदारे नववारिपूर्णजठरे किञ्चित्क्वणद्दर्दुरे
शम्बूकाण्डकपिण्डपाण्डुरततप्रान्तस्थलीवीरणे।
डिम्भा दण्डकपाणय: प्रतिदिशं पङ्कच्छटाचर्चिता-
श्चुभ्रूश्चुभ्ररिति भ्रमन्ति रभसादुद्यायिमत्स्योत्सुका:।।

अज्ञात, सुरको० २२६

क्यारियाँ पानी से लबालब भरी हैं
उनमें कुछ कुछ टर्राने लगे हैं मेढक
पानी से ऊभ चूभ धरती पर
खस के बीच घूमते घोघो से मटमैली है,
हाथों में डंडे सँभाले
कीचड़ के छीटों से लथपथ
छपाछप करते घूम रहे हैं लड़के हर दिशा में
उछलती मछली पर वार करने को तैयार।

१०१. यास्यामीति गिर: श्रुता अवधिरप्यारोपितश्चेतसा
गेहे यत्नवती भविष्यसि सदेत्येतत् समाकर्णितम्।
बाले मा शुच इत्युदीरितवत: पत्युर्निरीक्ष्याननं

निःश्वस्यस्तनपायिनि स्वतनये दृष्टिश्चिरं पातिता।।

धीरनाग, सुभाषितावालि, १०६४

जाना है– यह सुन लिया तुमने
कब तक लौटूँगा– यह भी गुन लिया है।
घर का ध्यान तुम्हें रखना है सदा ही
यह भी जान लिया है
अब और करो मत चिन्ता, बाले !
इतना कहते पति का निरखा चेहरा
छोड़ी साँस गहरी
फिर दुधमुँहे गोद के बच्चे को
ताकती रही बड़ी देर तक घरवाली।

१०२. अद्याशनं शिशुजनस्य बलेन जातं
श्वो वा कथं नु भवितेति विचिन्तयन्ती।
इत्यश्रुपातमलिनीकृतगण्डदेशा
नेच्छेद् दरिद्रगृहिणी रजनीविरामम्।।

अज्ञात, वही, १३११

आज तो जैसे तैसे खिला दिया बच्चों को
अब कल क्या खायेंगे वे —
यही चिन्ता खाये जा रही है उसको।
आँसुओं से भीग कर मैले हो चुके गालों वाली
गरीब की घरवाली
चाहती है बस यही —
कि ठहरी रह जाये रात।

१०३. प्रायो दरिद्रशिशवः परमन्दिराणां
द्वारेषु दत्तकरपल्लवलीनदेहाः।
लज्जानिगूढवचसो वत भोक्तुकामा
भोक्तारमर्धनयनेन विलोकयन्ति।।

अज्ञात, सुरको. १३२०

वे गरीब आदमी के बच्चे
दूसरे के घर के द्वार
पकड़े खडे है कोंपल जैसे हाथों से
छिप गये हैं बच्चो के देह
उन्ही हाथों के पीछे
बोल नहीं पाते हैं बच्चे
मिचमिचाई आंखो से झाँकते हैं भीतर
बच्चों के मन में होती है भोजन की इच्छा
और ताकते हैं वे उसे
जो कर रहा होता है भीतर भोजन।

१०४. मा रोदीश्चिरमेहि वत्स विकलान् दृष्ट्वाद्य पुत्रानिमान्
आयातो भवतोऽपि दास्यति पिता ग्रैवेयकं वाससी।
श्रुत्वैवं गृहिणीवचांसि निकठे कुड्यस्य निष्किञ्चिनो
निःश्वस्याश्रुजलप्लुताननमुखः पान्थः पुनः प्रोषितः।।

अज्ञात, वही, १३१४

रोओ मत बेटे
कितने समय से दुखी हो तुम मेरे बेटे
देख समझ कर यह सब
लौट आयेंगे तुम लोगों के भी पिता
ले आयेगे गले के हार और कपड़े
घरवाली के सुन कर ये वचन
भीत के उधर खड़ा अकिंचन
बटोही छोड़ता है साँस लम्बी
आँसू से मुँह भिगोता
फिर चल देता है यात्रा पर।

१०५. एते दरिद्रशिशवस्तनुजीर्णकन्थां
स्कन्धे निधाय मलिनां पुलकाकुलाङ्गाः।
सूर्यस्फुरत्करकरम्बितभित्तिदेश-
लाभाय शीतसमये कलिमाचरन्ति।।

अज्ञात, वही, १३०९

गरीब के लड़के लड रहे है।
कंधो पर फटी पुरानी मैली
कथरियाँ डाल रखी हैं लड़को ने।
शीत की ठिठुरन में
पुलक से आकुल हैं लड़कों का देह
सूरज की चमकीली किरणों में गुनगुना
भीत का एक टुकड़ा पाने को
एक दूसरे को
धकिया और लतिया रहे हैं लड़के।

◆◆◆

(१३) परिवार

१०६. पोतानेतानपि गृहवति ग्रीष्ममासावसानं
यावन्निर्वाहयतु भवती येन वा केनचिद् वा।
पश्चादम्भोधरजलपरीपातमासाद्य तुम्बी
कूष्माण्डी च प्रभवति तदा भूभुजः के वयं के ?।।

'सुरको. १३०६, धरणीधर'

गर्मी के ये दिन बीत जायें बस
बच्चो को सँभाले रहो
ओ घरवाली,
जैसे भी बन पाये, वैसे
फिर आयेगी बरसात गिरेगा पानी
जिसको पा कर फल जायेगी कुम्हड़े और लौकी की बेले
तब हम क्या
और राजा महराजा क्या ?

१०७. निर्वृष्टेऽपि बहिर्घने न विरमत्यन्तर्जरद्वेश्मनो
लूतातन्तुततिच्छिदो मधुपृषत्पिङ्गाः पयोबिन्दवः।
चूडाबर्बरके निपत्य कणिकाभावेन जाताः शिशो-
रङ्गास्फालनभग्ननिद्रगृहिणीचित्तव्यथादायिनः।।

अज्ञात, काव्यलाङ्कारसूत्रवृत्ति, ४/२/१० में उद्धृत

बादल फट गये हैं बरस कर
पर ठहर नहीं आई है जर्जरघर में होती टपटप

वे बार बार घुस आती हैं भीतर
मकड़ियो के जाले छेद छेद कर
बूँदें पानी की शहद की तरह भूरी
गिरती हैं बच्चे के माथे पर
बिखर जाती हैं छार छार फिर
देह पर चोट करती
उचटा देती हैं नींद गृहिणी की
व्यथा उसके चित्त में भर

१०८. देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो-
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान् पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति

सुभु. ६१/२२, दशरूपकावलोक ४/२८, हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन, २/४९ पर विवेक

देव बरस रहे है लगातार
बुझ चुकी है चूल्हे की आग
कैसे सध पायेगी आज रसोई ?
वे निकल पड़ी हैं बाहर
पड़ोस से आग माँगने
लकडी के पटियो पर पाँव धरती
कीचड़ से डरती
हाथों से परे हटाती छप्पर से लगातार बहता पानी
सूपों के छातों से माथे ढक कर
स्त्रियाँ घूम रही हैं इस घर से उस घर तक।

१०९. क्षुत्क्षामाः शिशवः शवा इव तनुर्मन्दादरो बान्धवो
लिप्ता जर्जरकर्करी जतुलवैर्नो मां तथा बाधते।
गेहिन्या स्फुटितांशुकं घटयितुं कृत्वा सकाकुस्मितं
कुप्यन्ती प्रतिवेशिनी प्रतिदिनं सूची यथा याचिता।।

अज्ञात, सुरको० १३०७

भूख से दुबलाये बच्चे मुर्दों की तरह हो गये हैं
कुछ ही बचे हैं रिश्तेदार
वे भी करते है तिरस्कार
जर्जर गगरी लाख से जिसे साँधा गया है कितनी ही बार
ये सब नहीं सालते मन को उतना, जितना

घरवाली का फटा वस्त्र सीने को
सूई–धागा लेने पड़ोस में जाना
पड़ोसिन का मुँह बिचकाना, कुढना, मुस्काना

११०. **दारिद्र्यगृध्रपरिभुक्तसमस्तमांसं**
स्नायूपरुद्धसकलास्थिचयावशेषम्।
पीयूषवृष्टिमिव नाथ निधेहि दृष्टिं
कङ्कालजालमिदमङ्कुरमातनोति।।

अज्ञात, सकमृ. २२३४

सारा मांस नोच नोच कर खा गया है
गीध दरिद्दर का
नाड़ियों का जाल भर है
बाँधे हुए हड्डियों के इस ढाँचे को
अब तो अमरित बरसाइये
इधर भी दृष्टि सरसाइये
राजन्, अस्थिकंकाल यह
फिर से अँकुरा ज़ाए शायद।

१११. **अम्बा तुष्यति न मया**
न स्नुषया, सापि नाम्बया न मया।
अहमपि तया, न तया
वद राजन्, कस्य दोषोऽयम् ?।।

अज्ञात, वही, २२३१, भोजप्रबन्ध में भी प्राप्त

माँ न मुझ से प्रसन्न रहती है, न बहू से
बहू उसकी, — न माँ से प्रसन्न रहती है न मुझ से

मै भी प्रसन्न नहीं रहता न इससे, न उससे
कहिये राजन्, इसमें दोष भला किसका है ?

११२. जरदम्बरसंवरणविधौ
ग्रन्थकार एकोऽहम्।
परिमितकदन्नवण्टन-
विद्यापारङ्गता गृहिणी।।

भानु, वही, २२३०

मैं हूँ कलाकार अलबेला
फटे पुराने चिथड़े सीने की
जानूँ कला अकेला।
कम चतुर नही है
घरवाली भी मेरी
मोटा अनाज जितना भी थोड़ा सा हो
बटवारे की विद्या में वह पारंगत है।

११३. कूष्माण्डीविटपः फलत्यविरतं सिक्तः सुवर्णाम्बुना
भूयोभिर्गदितं हितैषिभिरितीवास्माभिरङ्गीकृतम्।
तत्संयाच्य कुतश्चिदीश्वरगृहादादीयमानं शनै-
रध्वन्येव हि बिन्दुभिर्विगलितं श्राणे शरावोदरे।।

अज्ञात, सुरको. १३१५

कुम्हड़े की बेल बहुत फलती है– डालो यदि उस पर सोने का पानी
भला चाहने वाले कइयो ने यह बात सुझाई, और हमने भी मानी।
किसी रईस के घर से विनती कर के जल सोने का कहीं तनिक हम पाये
फूटे सकोरे से बूँद बूँद वह चुआ राह में, हम खाली घर आये।

११४. न भिक्षा दुर्भिक्षे पतति दुरवस्थाः कथमृणं
लभन्ते कर्माणि द्विजपरिवृढान् कारयति कः।
अदत्वापि ग्रासं दिनपतिरसावस्तमयते
क्व यामः किं कुर्मो गृहिणि गहनो जीवनविधिः।।

अज्ञात, रसरत्नप्रदीपिका ४/४३

भीख कहाँ मिलती है इस अकाल में ?
कौन कर्ज देगा हम कंगालों को ?
मजूरी — हम बामनों से करायेगा कौन ?
एक कौर दिये बिना डूब जाते हैं सूरज देवता
कहाँ जाएँ, क्या करें, घरवाली।
जीवन की विधि बड़ी गहन है।

११५. **साक्रान्दा शिशवः सपत्रपुटका वप्तुः पुरोवर्तिनः**
प्रच्छन्ने च वधूर्विभागकुशला मध्येस्थिता गेहिनी।
कट्याच्छादनबन्धकेन कथमप्यासादितेनान्धसा
सिन्दूरारुणमण्डले सवितरि प्राणाहुतिर्दीयते।

अज्ञात, कुरको., १३०८

करधनी गिरवी रखकर किसी तरह नाज मिला है
किसान के आगे खड़े हो गये हैं
बच्चे चीखते हुए
ओट में खड़ी है बहू
बीच में है घरवाली बँटवारा करने में चतुर
ऊपर चमक रहा है सूरज रक्त सिंदूर सरीखा
नीचे प्राणों की जलती ज्वाला में
गिरी हैं कुछ आहुतियाँ।

११६. **चुल्लीसीमनि गोरसार्द्रमशनं भुक्त्वा परीत्यार्भकै-**
रभ्याशे स्वकृषीक्षुयन्त्रनिनदं हर्षात् समाकर्णयन्।
शेते संहतगोगणोष्मणि गृहे स्रस्ताम्बरां गेहिनी-
मालिङ्ग्यागणयन्निशासु तुहिनं प्रोड्डामरः पामरः।।

संस्कृतसूक्तिसागर, पृ. ३०४

चूल्हे के पास बैठ कर
बच्चों से घिर कर
गोरस में भीजी
ब्यारी की
लेटा तो जी जुड़ा गया था पास की
घानी में ईख पेरने का सुर सुनते सुनते

गायो के झुंड ने भर दी थी गुनगुनाहट
फिर तन से सरके पल्लू वाली
घरवाली को लिपटा कर
मस्ती में सो गया मजदूर
शीत के डर को कर के मन से दूर।

११७. द्वारं गृहस्य पिहितं शयनस्य पार्श्वे
वह्निर्ज्वलत्युपरि तूलपटो गरीयान्।
अङ्केऽनुकूलमनुरागवशात् कलत्र-
मित्थं करोति किमसौ स्वपतस्तुषारः।।
(बाण, सुरको. १३६१, सुभा., १८५३ तथा शाप. ३९४९ में भी प्राप्त)

उढका हुआ है द्वार घर का
तुलगा हुआ आँच बगल में
ऊपर से ओढी है रजाई भारी
संग लेटी है घरवाली
सदा साथ देने वाली
इस तरह सोये हैं
तो कर क्या लेगा जाड़ा ?

११८. कन्थाखण्डमिदं प्रयच्छ यदि वा स्वाङ्के गृहाणार्भकं
रिक्तं भूतलमत्र नाथ भवतः पृष्ठे पलालोच्चयः।
दम्पत्योर्निशिजल्पतोरितिवचः श्रुत्वैव चौरस्तदा
लब्धं कर्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन्निर्गतः।।
(अज्ञात, सूमु. १२७/११, सुभाषितहारावली – ८४९, पद्यरचना–७३३ तथा भोजप्रबन्ध)

या तो यह कथरी ही इधर दे दो
या फिर अपनी गोदी में ले लो लड़के को
यहाँ तो खाली धरती है,
तुम्हारे पीछे तो फिर भी पुआल की ढेरी है स्वामी।
रात में सुनी यह बात दम्पति के बीच की
घर में घुसे चोर ने।
सुन कर
दूसरे घर से चुराई चादर

फैंक कर उनके ऊपर
रोता हुआ वह निकल गया बाहर।

११९. श्वश्रूः पश्यति नैव पश्यचति यदि भ्रूभङ्गवक्रेक्षणा
मर्मच्छेदपटु प्रतिक्षणमसौ ब्रूते ननान्दा वचः।
अन्यासामपि किं ब्रवीमि चरितं स्मृत्वा मनो वेपते
कान्तः स्निग्धदृशा विलोकयति मामेतावदागः सखि।।

संस्कृतसूक्तिसागर

सास यों तो कभी देखेगी भी नहीं मेरी ओर
देखेगी कभी तो भौहें उसकी ढेढी ही रहेगी।
ये ननद जी हैं, कलेजे को छेदने वाले
बोल ही बोलेंगी, जब भी बोलेंगी,।
और क्या कहूँ देवरानियों जेठानियों की
उनका चरित याद कर के काँप जाता है मन।
प्रिय नेह भरे नयनों से मुझ को
देखते हैं बस
अपराध यही है मेरा।

१२०. निःस्नेहः पतिरुज्झिता करुणया श्वश्रूरजस्रं वृथा
वाग्बाणैर्हृदयं भिनत्ति कलहोत्तालाः पुनर्यातरः।
नित्यं निन्दति नैव नन्दति कदाप्येषा ननान्दापि त-
न्मातः कं शरणं व्रजामि तरुणा दीनाहमेकाकिनी।।

वही, ३३०

पति का मुझ पर स्नेह नहीं है
सास के मन में नहीं दया ममता तनिक भी
व्यर्थ वचन के बाणों से
छलनी करती हैं मेरा मन
देवरानियाँ जिठानियाँ
दिन भर खोले रहती हैं झगड़े की गठरी
ननद जी को मैं फूटी आँख सुहाती नहीं
मेरी कोई बात उन्हें भाती नहीं
मैं तरुण, दीन, अकेली
जाऊँ कहाँ, किसी शरण ?

१२१. कार्येणापि विलम्बनं परगृहे श्वश्रूर्न सम्मन्यते
शङ्कामारचयन्ति यूनि भवनं प्राप्ते मिथो यातरः।
वीथीनिर्गमनेऽपि तर्जयति च क्रुद्धा ननान्दा पुनः
कष्टं हन्त मृगीदृशां पतिगृहं प्रायेण कारागृहम्।।

वही, ४८३

पड़ौस में काम से भी थोड़ी देर रुक जाना
बरदाश्त नहीं है सास को मेरा
कोई लड़का मिलने आ जाए
तो बात का बतंगड़ बना देगी
देवरानियाँ जिठानियाँ
गली में पाँव रखने से भी
जलीं कटी सुनायेगी रिसा कर ननद;
सुन्दरियों के लिये प्रायः पति का घर
कष्ट है, होता है कारागृह

१२२. क्षारं राद्धमिदं किमद्य दयिते राध्नोषि किं न स्वय-
माः पापे प्रतिजल्पसे प्रतिदिनं पापस्त्वदीयः पिता।
धिक्त्वां क्रोधमुखीमलीकमुखरस्त्वत्तोऽपि कः क्रोधनो
दम्पत्योरिति नित्यदत्तकलहक्लेशान्तयोः किं सुखम् ?।।

अज्ञात, सुभाषितावलि – २३७९

यह आज कैसा खारा भोजन राँध दिया है घरवाली !
तो पका नहीं क्यों लेते खुद ही ?
अरी पापिनी, रोज रोज जवाब देती है मुँह पर।
पापी होगे पिता तुम्हारे ——
धिक्कार है तुझ क्रोध मुखी को
तुम जैसा है कोई क्रोधी और झुठैला
इसी तरह प्रतिदिन
कलह के क्लेश में नष्ट होते हैं दम्पति जो
क्या सुख है उनको ?

◆◆◆

(१४) बैल

१२३. आनीतो हलसन्निधिं कथमपि द्वित्रैः प्रतोदाहतो
योक्त्रं वीक्ष्य धरां गतो मृत इति त्यक्तो भिया हालिकैः।
लाङ्.गूलेन विषाणयोश्च विधृतः क्षेत्राद् बहिश्चेत् कृतो
बद्धस्पर्धमुपैति तत्र निनदन्नुक्षाणमुक्षाधमः।।

दो तीन जने पकड़ कर
कौड़े मार मार कर
लाते हैं उसे खींच कर
हल तक।
देखते ही जुआ
वह पड़ जाता है धरती पर
मुर्दा बन कर।
उसे मरा जानकर
घबरा कर
छोड़ देते हैं हलवाहे।
वे उसकी पूँछ और सींग पकड़ कर
निकाल देते हैं खेत से उसको बाहर
तब फिर होड़ बद पर
डकारता हुआ बैल पर
वहीं आ धमकता है
अधम गरियार बैल।

१२४. शश्वच्चर्मपुटावरुद्धनयन: पुष्ट: खरिद्राशना
लाड्. गूलं बहुमोटनेन कुटिलं छिन्नाग्रबालं दधत्।
घूर्णंस्त्वं दिनबृद्धतैलिकवधूसान्द्रप्रतोदाहतो
वृद्धोक्ष: स्वसुखराग्रखण्डितधरापृष्ठे परिभ्राम्यति।।

वही, २५

चमड़े के पुट से उसकी ढकी हुई हैं आँखें
खली खा खा कर
वह मुटा चुका है
बहुत मरोड़ी जाने से
टेढी पड़ चुकीहै पूँछ उसकी
और झड़ चुके हैं पूँछ के आगे के बाल।
वह घूमता है लगातार
बूढे तेली की बहू कस कर
देती जाती है कोड़े की मार
बूढ़ा बैल तेली का
अपने खुरो से खंडित धरती पर
चलता है फिर फिर खुर रख कर।

१२५. लग्न: शृङ्गयुगे गृही सतनयो वृद्धौ गुरू पार्श्वयो:
पुच्छाग्रे गृहिणी खुरेषु शिशवो लग्ना वधू: कम्बले।
एक: शीर्णजरद्गवो विधिवशात् सर्वस्वभूतो गृहे
सर्वेणैव कुटुम्बकेन रुदता सुप्त: समुत्थाप्यते ।।

अज्ञात, सुरको. १३१७

दौनो सींगो पर लगा हुआ है घरवाला अपने बेटे के संग
बूढे माता और पिता भी
अगल बगल में लगे हुए हैं
घरवाली ने पकड़ी है पूँछ
खुर सहलाते हैं बच्चे
हाथ दिया है और बहू ने
गले की उसकी झालर पर
यही एक बैल था बूढा
इस घर का सब कुछ ले दे कर

भाग्य की बात
पड़ गया है वही
रोता हुआ सारा कुटम्ब
लगा है उसे खड़ा करने में।

१२६. तिर्यक् तीक्ष्णविषाणयुग्मचलनव्यानम्रकण्ठानन:
किञ्चित् कुञ्चित्लोचन: खरपुटेनाचोटयन् भूतलम् ।
नि:श्वासै रतिसन्ततैर्बुसकणाजालं खले विक्षिप-
न्नुक्षा गोष्ठतटीषु लब्धवविजयो गोवृन्दमास्कन्दति।।

(अचल,सुरको.११८६ सकमृ. २०१३ में योगेश्वर के नाम से)

तीखे अपने सींग खुभाने को झुका रहा है थूथन और गरदन
कुछ सिकोड़ कर आँखे, वह खोद रहा है खुरपुट से धरती
वह छोड़ रहा है साँस उड़ाता खल में भूसे का ढेर
गोठ की मुठमेड़ में विजयी साँड
हावी है गायों पर।

१२७. अनसि सीदति सैकतवर्त्मनि
प्रचुरभारभरक्षपितौक्षके
गुरुभरोद्धरणोद्धुरकन्धरं
स्मरति सारथिरद्य धुरन्धरम्

(अज्ञात, शाप ९९२)

फँस गई है गाड़ी रेतीले रस्ते में
बहुत भारी बोझ से बेदम है बैल
बड़े बड़े बौझे ढोने में माहिर काँधों वाले
धुरन्धर बैल की याद कर रहा है गाड़ी वाला।

१२८. मार्गे दुर्गमकर्दमे जलभृते गर्ताशतैराकुले
खिन्ने शाकटिके भरेति विषमे दूरं गते रोधसि।
शब्देनैतदहं ब्रवीमि महता कृत्वोच्छ्रितां तर्जनी-
मीदृक्षे विषमे विहाय धवलं वोढुं क्षम: को धुरम्।।

अज्ञात, वही ९६३

कीचड़ से भरी गैल दुर्गम
तिस पर नाले और खाइयाँ अनगिनती
थक कर चूर हुआ है गाड़ीवाला
बड़ा विकट है बोझ
और है दूर किनारा
पर भैया हम तो दूर से ही सुन कर
बैलगाड़ी की गड़गड़
कह देते है तर्जनी उठा कर
केवल एक —— वही अपना बैल धौला
ला सकता है ऐसी विकट राह में से गाड़ी
छोड़ कर उसको
बैल ही और कहाँ है कोई ?

१२९. दन्ताः सप्त चलं विषाणयुगलं पुच्छाञ्चलः कर्बुरः
कुक्षिश्चन्द्रकिता वपुः कुसुमितं सव्यच्युतं चेष्टितम्।
अस्मिन् दुष्टवृषे वृषाग्रिमगुणग्रामानभिज्ञात्मनो
ग्रामीणस्य तथापि चेतसि चिरं धुर्यभ्रमः स्फूर्जति।।

अज्ञात–शाप० ९६४

सात दाँत हैं उसके
सींग बराबर हिलाता रहेगा
और यह पूँछ का भूरा छोर ठहरा।
लटक रही है यह कोख
और देह पर
फूल उगे हों जैसे
हर बात तो टेढ़ी है इसकी
यह एक दुष्ट बैल है
और यह गँवार मत का मारा
समझ रहा है वह ले आया है बैल उत्तम
जानता ही क्या है वह अच्छे बैल के लक्षण।

१३०. कासाञ्चिद् धवलश्चिरं निवसतां चितेऽपरासां पुन–
र्नीलो वा कपिलो ऽथवा वरवृषो रक्तो ऽथवा मेचकः।

ग्रामीणैरवधीरितो ऽपि शिथिलस्कन्धो ऽप्यनूर्ध्वश्रवा:
स्वान्ते मे परतन्त्रतुन्दिलतनुर्जागर्त्ययं कर्बुर:।।

श्रीचन्द्र, वही, ९६५

किसी के मन में बसा है बैल धौला
किसी को भाता है श्याम, भूरा, लाल या काला।
हमारा तौ भैया बस यही है एक चितकबरा
करता हो थू'थू उस पर सारा गाँव
तो करता रहे,
ढीले कंधे और लटकते कानो वाला
हमारे ही आसरे है तुंदिल देह उसकी
हमारा भी तो मन
बस लगा है उसी में।

१३१. गुरुर्नायं भार: क्वचिदपि न पन्था: स्थपुटितो
न ते कुण्ठा शक्तिर्वहनमपि ते ऽङ्गे न विकलम्।
इह द्रङ्ण्गे नान्यस्तव गुणसमानस्तदुधना
धुनानेन स्कन्धं धवल किमु मुक्त: पथि भर:।।

अज्ञात, वही ९६६

ऐसे तो कोई भारी बोझ नहीं था
और न था रस्ता ही उबड़खाबड़
ताकत भी तेरी बनी हुई है
और ठीक ठाक है तन
गुण में तेरे जैसा कोई
बैल नहीं
फिर भैया धौले बैल
यह औचक कन्धा झटका कर
बीच गैल में
क्यों गिरा दिया है बोझा ?

१३२. न ध्वानं कुरुषे न यासि विकटं नोच्चैर्वहस्याननं
दर्पान्नो लिखसि क्षितिं खुरपुटैनावज्ञया वीक्षसे।

किन्तु त्वं वसुधातलैकधवल स्कन्धाधिरूढे भरे
तीराण्युच्चतटीविटङ्कविषमाण्युल्लङ्घयन् वीक्ष्यसे।।

अज्ञात वही, ९६७

ओ मेरे धौले बैल
इस धरती पर
तू ही तो है बस
बैलों में बैल
अब वह गूँजती डकार नहीं भरता तू
न चाल में वह तेजी है
न ऊँची थूथन कर के चलता है
भर घमंड में नहीं खुरों से खोदा करता धरती
नहीं ताकता तिरस्कार से
पर जब तू कन्धों पर बोझा लादे
कर लेता है ऊबड़ खाबड़ पार किनारे
देखते रह जाते हैं लोग।

१३३. यस्यादौ व्रजमण्डनस्य वहतो गुर्वीं धुरं धैर्यतो
धौरेयैः प्रगुणीकृतो न युगपत् स्कन्धः समस्तैरपि।
तस्यैव श्लथकम्बलस्य धवलस्योत्थापने साम्प्रतं
द्रङ्गे ऽत्रैव जरावसादिततनोर्गोः पुण्यमुद्घोष्यते।।

अज्ञात, शाप ९६८

यह पूरे गोठ का गहना था हमारा बैल
कितना ही भारी बोझा हो
उठा लिया करता था यह धीरज से
बड़े बड़े बैल कभी काँधों तक
इसके पहुँच नहीं पाये
आज बुढापे का मारा है यह धौला बैल हमारा
झूल रही है ढीली हो कर
आज गले की इसकी झालर
"पुण्य हो, पुण्य हो गऊ देव है, गऊ देव है" कह कर
पाँच जन लगा रहे हैं हाथ
उठाने को उसको आज।

१३४. एतानि बालधवल प्रविहाय कामं
गोष्ठाङ्गने तरलतर्णकचेष्टितानि।
स्कन्धं निधेहि धुरि पूर्वधुरीणमुक्तो
नेतव्यतामुपगतो ऽस्ति तवैष भारः ।।

अज्ञात, वही, ९६९

ए नन्हें धौले बैल
गोठ में चंचल बछड़ों जैसी
छोड़ दे अब यह सब शैतानी
डाल दे गरदन इसी जुए के नीचे
तेरे पुरखे बैलो ने
तेरे लिये जिसे छोड़ा है
बोझ खींच कर यह सारा
अब तुझ को ही तो चलना है।

१३५. न खनति खुरैः क्षोणीपृष्ठं न नर्दति सादरं
प्रकृतिपुरुषं प्रेक्ष्याप्यग्रे न कुप्यति गोचरम्
वहति च धुरं धुर्यो धैर्यादनुद्धतकन्धरो
जगति गुणिनः कार्यादार्यात् परानतिशेरते।।

अज्ञात, शाप. ९७०

अब वह नहीं खोदता धरती
खुरों से अपने
अब वह नहीं डकारता
ऊँचे सुर में
सामने पा कर मालिक को
रोष नहीं दिखलाता है वह
जुए के नीचे
वह डाल चुका है गरदन
उठाता है उसको धीरज से
झटक नहीं देता है कंधा
ऐसे ही होते हैं जग में यहाँ गुणी जन
बड़ा काम कर देते हैं

और बड़े होते हैं औरों से
जैसे यह बैल धौला।

१३६. वप्तुं प्रोत्सहमानपामरकरक्षिप्तेक्षुकाण्डैः सह
द्वेधाकृत्य नितम्बपावनवनक्षेत्रं विशन्त्यां हलौ।
हेलोदस्तहलीषमीषदसं रोमन्थमभ्यस्यतो
धन्या धूर्वृषपुङ्गवस्य वहतः पश्यन्ति लीलायितम् ।।

शृङ्गारप्रकाश, पृ. १९ , पृ० ७१७

बुवाई के लिये हुमसा कर हाथ
फैंक रहा है मजदूर
ईख के टुकडे, साथ उनके
खेत की धरती में करती हुई फाँक
भीतर धँसती है नोक हल की।
खेल खेल में उचका देता है बैल तगड़ा
ईंस हल की
फिर कुछ अलसा कर करने लगता है जुगाली
धन्य हैं वे,
जो देखते हैं बैल की यह लीला।

•••

(१५) गाय

१३७. आहत्याहत्य मूर्ध्ना द्रुतमनुपिबतः प्रस्नुतं मातुरूधः
किञ्चित्कुब्जैकजानोरनवरतवलच्चारुपुच्छस्य धेनुः ।
उत्तीर्णां तर्णकस्य प्रियतनयतया दत्तहुङ्कारमुद्रां
विस्रंसिक्षीरधारालवशबलमुखस्याङ् गमातृप्ति लेढि ।।

मयूर. शाप० ५९७ सुभा० २४२५, तथा
महासुभाषितसंग्रह–२, ५६८९

थूथन मार मार कर
तेजी से पी रहा है बछड़ा
थनों से रिसती
धार दूध की
कुछ घुटना झुका लिया है उसने
हिलती है उसकी पूँछ बराबर
सुन्दर रोओ वाली
बिलुरी हुई दूध की धारें
छितरा गई है उसके मुख पर
अब हुँकारी करने करने को है वह
गाय भी उसकी इस मुद्रा का
देती है उत्तर
वह चाट रही है देह लाड़ले की
नेह में भर कर।

१३८. हन्ति स्थूणाश्चरणहननैर्हेहेन्ति द्रोग्ध्रीं सपात्रां
वत्सं हन्ति स्तनपरिसरालोकिनं हन्ति भूमिम्।
दामग्रन्थित्रुटनवलितग्रीवमुत्प्लुत्य लोकं
हम्बाशब्दैश्चलयति शकृन्मूत्रिणी गौरदुग्धा।।
सुमु ९६/११

मारती है खूँटे पर पैर
मारती है लात
हाथ में बर्तन लिये खड़ी दुहने वाली को।
मारती है थनों पर आँख लगाये खड़े हुए बछड़े को
मारती है धरती को
तोड़ कर रस्सी
गरदन टेढ़ी कर , उछाल भर कर
हम्मा–हम्मा की पुकार मचाती
गोबर और मूत गिराती
कुदा कर भागी गाय
हैरान कर रही है लोगों को।

१३९. आदौ वितत्य चरणौ विनमय्य कण्ठ–
मुत्थाप्य वक्त्रमभिहत्य मुहुश्च वत्साः।
मात्रा प्रवर्तितमुखं मुखलिह्यमान–
पश्चार्धसुस्थमनसः स्तनमुत्पिबन्ति।।
चक्रपाणि, सुरको० ११६८

फैला कर पैर, झुका कर कंठ
ऊंचा कर के मार रहे हैं मुख बार बार वह
मुख उनकी ओर मोड़ कर माताएँ
चाट रही है मुखों से उनकी पीठ और कूल्हे
उससे सुस्थ हो रहे हैं बछड़े, पी रहे हैं थन

◆◆◆

(१६) भैंसा

१४०. न ब्रूषे परुषं न जल्पसि मृषावादं न गर्वोन्नतिं
धत्से प्रत्युत लाङ्गले नियमितं स्वं क्लेशयित्वा वपुः।
मर्त्यानामनुपाधिजीवनकृते त्वं कल्पसे कासर
त्वय्येवं सति दुर्नयाननुसरन् हन्तास्म्यहं वञ्चितः।।

तुम रूखा रूखा नहीं बोलते
तुम झूठ बकवास नहीं करते
तुम गर्व में तन्नाये नहीं रहते
तुम बराबर जुआ उठाये रहते हो
अपने देह को क्लेश देते हुए
मनुष्यों के निस्सार जीवन के लिये अर्पित
तुम्हारे रहते भी
ढीढ लोगों के पीछे लगा रह कर
मैं ठगा जाता रहा।

१४१. त्वं क्रीतोऽसि मया पणैःकतिपयैर्भर्तुं कुटुम्बं निजं
त्वं तु प्रागधमर्णतामिव भजन् स्वां क्लेशयित्वा तनुम् ।
नाना धान्यसमुद्गमैर्यदकरोस्त्वं मां तथा निर्वृतं
तत् ते श्रीमहिषाद्भुतैरुपकृतैः क्रीतोऽस्मि मूल्यं विना ।।

मैंने तुम्हें खरीदा पैसों से
अपना कुटुम्ब भरने को
तुम तो उसके पहले से ही जैसे मेरे कर्जदार बन

अपने देह को कष्ट देते हुए
भाँत भाँत के जो उपजा कर तुमने अनाज
पार लगा दिया मुझे
उसके कारण है भैया भैंसे
बिना मोल तुमने मुझे खरीद डाला है।

१४२. पैशुन्यं नहि कर्णयामि भवतो ना ज्चस्यरे वञ्चनां
मेकाकारतयैव तिष्ठसि सखे सर्वास्ववस्थासु च।
भूपालै रलमव्यवस्थहृदयै र्दिष्ट्याद्य दृष्टोऽसि नः
श्रीमत्कासरसार्वभौम भवता नाथेन मोदामहे।

कभी तुमने चुगलखोरी की
ऐसा नहीं हुआ
कभी तुमने ठगी की
ऐसा नहीं हुआ
तुम ऐसे के ऐसे ही रहते आये
हर एक दशा में।
राजाओं के जी का कोई ठिकाना है?
उनको छोड़ हमने जो तुम्हें देखा, समझा
हे महिष–सम्राट तुम हुए हमारे स्वामी
और हम प्रसन्न है।

१४३. त्वं बद्धोऽसि च मद्गुणैर्दृढमहो बद्धोऽस्मि च त्वद्गणै-
स्त्वं मां रक्षसि सैरिभोत्तम सखे रक्षामि च त्वामहम्।
इत्योन्यकृतोपकारमुदितावावामिह द्वावपि
स्थास्यामश्शरदां शतं द्रुतममी नश्यन्तु नः शत्रवः।।

मैंने तुमको अपनी रस्सी से बाँधा
और तुमने मुझे अपने गुणों से बाँध लिया
हे श्रेष्ठ महिष, तुम करते हो मेरी रक्षा
और तुम्हारी रक्षा मैं करता हूँ
हम दोनों यों ही एक दूसरे का भला करते हुए
रहेगे यहाँ सो साल तक
मेरे हमारे शत्रु

१४४. मत्ता वित्तमदैर्दुराग्रहभृताश्चाण्डालरण्डासुता
येमी दुर्धनिकानि कामपरुषव्याहारकौलेयका।
तेषां वक्त्रविलोकनात् तव वरं स्थूलाण्डकोशेक्षणं
येन श्रीमहिषेन्द्र लभ्यत इह प्रायेण मिष्टाशनम्।।

ये चांडालो के राँड़ो के बेटे
जो मतवाले हैं दौलत के मद में
ये नीच धनी लोग
ये मनमानी बकबक करने वाले मांसाहारी कुत्ते
मैं देखूं इनके मुखड़े
इससे तो तेरे विशाल अंडकोष का दर्शन करना ज्यादा अच्छा
जिसके बल से
प्रायः मीठा भोजन मिल ही जाता है हमको।

१४५. तिष्ठन्तु क्षितिपा भुवि स्मयभरप्राग्भावदूरीभवत्-
कृत्याकृत्यविवेकमूढमनसो नैवाश्रये तानहम्।
एहि त्वं सरसीतटं तव पुनर्मूर्धाभिषेकं जलै-
रस्मत्संवसधावनायकरवै राजेव संरक्ष नः।।

महिषशतकम् २१.२५-३०

दूर रहें राजे महाराजे
अपने धमंड में तन कर
पहले ही दूर कर लिया उन्होने अपने को हम से
नष्ट हो चुका है उनके मन का विवेक
क्या करना है और नहीं क्या करना
इसकी परख नहीं कर सकते वे
मैं न गहूँगा
आश्रय उनका
आओ भाई भैंसे चले सरोवर के तट पर हम
अभिषेक तुम्हारा मैं जल से वहाँ करूंगा
फिर तुम साथ हमारे रहना राजा बन कर
और बचाये रहना हम को।

◆◆◆

(१७) गाँव

१४६. कैश्चिद् वीतदयेन भोगपतिना निष्कारणोपप्लुत-
प्रक्षीणैर्निजवंशभूरितिमितैरत्यज्यमाना कुलैः।
ग्रामा निस्तृणजीर्णकुड्यबहुला स्वैरं भ्रमद्बभ्रवः
प्रायः पाण्डुकपोतकण्ठ मुखरा रामे न यान्त्यत्कण्ठताम्।।

अज्ञात, सुरको, ११७५

गाँव में कुछ इने गिने परिवार अभी भी हैं ऐसे
दरिंदे जमीदार के द्वारा बिना कारण सतांये गये
पतली हालत वाले
हो कर भी जो छोड़ कर नहीं जा रहे हैं गाँव
कि यह पुरखो की धरती ठहरी
गाँव में तिनका भी अब बचा नहीं है
टूटी फूटी भीतो से भरा हुआ है गाँव
बेखटके घूमते रहते हैं नेवले गाँव में
गाँव में अब कोई सनसनाहट नहीं दौड़ती
जब कभी कबूतरो के कंठ से गूँज उठता है बगीचा।

१४७. एते सन्ततभृज्यमान चणकामोदप्रधाना मनः
कर्षन्त्यूषरसन्निवेशजरठच्छायाः स्थलीग्रामकाः।
तारुण्यातिशयाग्रपामरवधूसोल्लासहस्तग्रह-
भ्राम्यत्पीवरयन्त्रकध्वनिरसद्गम्भीरगेहोदराः।।

अज्ञात, वही, ११७३

गाँव में लगातार भुन रहे हैं चने
सौंधी सुगन्ध उनकी फैल रही है गाँव में
ऊसर धरती के फैलाव पर
छाया बुढा रही है यहां गाँव में
तरुणाई हिलोरे ले रही है इनमें
खेतिहरों की बहुएँ भर उमंग में
हाथो में भर कर पेर रही हैं धानी
धानी का रसभरा सुर
घर घर के भीतर गाँव में गूँज रहा है।

१४८. शालिच्छेदसमृद्धहालिकगृहाः संसृष्टनीलोत्पल-
स्निग्धश्यामयवप्ररोहनिविडव्यादीर्घसीमोदराः।
मोदन्ते परिवृत्तधेन्ववनडुहच्छायाः पलाशैर्नवैः
संसक्तध्वनदिक्षुयन्त्रमुखरा ग्रामा गुडामोदिनः।।

अज्ञात, समु. ११५३

धान कट गया है
और अब भरा पूरा है हलवाहे का घर
गड़डमगड़ड हुए नील कमल से
चिकने सघन श्याम जवा के अँखुओ में गुँथे हुए हैं,
दूर दूर चक फैले हुए सिवान गांव के–
गाये घेर कर साँड़ को घूम रही हैं गाँव में
ईख की धानी का लगातार शोर
मुखर है गाँव में
फैल रही है गुड़ की सुगंध
छाया दार पलाशों से
आनंदित है गाँव।

१४९. विलासमसृणोल्लसन्मुसलदोःकन्देली
परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनैर्दन्तुराः।
हरन्ति कलहुङ् कृति प्रसभकम्पितोरःस्थल-
त्रुटद्गमकसङ् कुलाः कलमकण्डनी गीतयः ।।

योगेश्वर, सुरको. ११७८ शृप्र.भा.३ प्र. १६ पृ. ६५५

सुंदर गौरी बाहों में मूसल
उठता है ऊपर, गिरता है नीचे
टकरा टकरा कर खन खन बज उठते कंगन
बरबस हिल हिल उठती है छाती
हुंकारी के सुर के संग
टूट टूट कर जुड़ती है धुन
गा रही हैं धान कूटने वालियाँ

१५०. उद्वेगं जनयन्ति सञ्चितवृषव्याप्ताजिरोपान्तका:
प्रातः शीर्ण कुटीरपुञ्जितलताशिम्बीतुषाराविलाः
ग्रामा गोमयधूमसन्ततिपरिक्लिष्टारुणश्मश्रुभि
र्वृद्धैः कुड्यनिवातलीननिभृतै रभ्यर्थ्यमानातपाः ।।

योगेश्वर, सकमृ० १३५२

बैचेन करता है गाँव
हर घर के आँगन में सिमट सिंकुड कर बैठे बैलो वाला गाँव
सबेरे सबेरे फूस की झोपड़ियों पर छितराई सेम की बेलों के ऊपर
मंड़राते कंडो के धुँए में मटमैली लाल मूंछों वाले
पछाँह से बचने को पिछवाड़े की दीवार के सहारे बैठे
बूढ़ों का गाँव

१५१. आभोगिनः किमपि सम्प्रति वासरान्ते
सम्पन्नशालिफलपल्लवितोपशल्याः ।
ग्रामास्तुषारभरबन्धुरगोमयाग्नि
धूमावलीवलयमेखलिनो हरन्ति

अज्ञात, सुरको. ३०३ सकमृ० १३५१

साँझ की वेला में फैला फैला सा गाँव
दूर दूर तक सिवान पर पके धान से
हरा भरा यह गाँव
कंडो से उडते धुँए के घेरे में कमर कस कर
तुषार को झिझोड़ता गाँव

१५२. सीमान्तास्तुहिनागमे हलहतिव्यासर्पिशस्याटवी
नष्टप्रावरणा यवाङ्.कुरचयं रोमाञ्चवद् बिभ्रति
ग्रामाः शालिपलालपिङ् गलखलप्रान्तज्ज्वलत्पावक-
प्रोद्यन्मांसलधूमकम्बलमलं शीलालवो भेजिरे।।
पिआक सकमृ. १३५५

सरदी आ उतरी है गाँव में
धान काट कर जमीन गोड़ चुके किसान
ओढनी उतर गई इसकी
ऐसा कुछ लगता है सिवान
धान और पुआल के ढेरों और पीली खली के बगल में
सुलगती है आग
गदराये हुए धुँए का कम्बल
ओढ़ लेते हैं ठिठुरते हुए लोग।

१५३. सिद्धार्थाः फलसूचिबन्धगुरुभिर्लालन्त्यमी पल्लवै
रुच्छिन्दत्यध एव दन्तुरतया कोलीफलान्यर्भकाः।
पाकप्रश्लथपत्रकोषदलनलव्यक्ताङ्कुरग्रन्थयो
निष्ठीवन्त्यपि हस्तयन्त्रकलिताः पुण्ड्रेक्षुयष्टयो रसम्।।
वाचस्पति, सुरको. ३१६ समभृ. १३५७

पकती सरसों की कोंपलें हिल रही हैं
बेरी के नीचे आ जुटे हैं छोकरे
कुतर रहे हैं बेर बीन कर
हाथ से पेरते ही घानी से
गन्ने के पौड़े चुआ रहे हैं रस

१५४. स्वैरं कीकटदारकः परिसरे गुन्द्रालतोपाहित-
त्वङ्. गच्चर्चरको विरूढ़लशुनश्यामः परिक्रामति।
विश्रान्तं मुसलैः स्थितं तितउभिर्विश्रज्जम्भोघटै-
र्निर्वाणं ज्वलनैमुखैर्विवलितं ग्रामेयिकाणां पुरः।।
योगेश्वर, सुरको०, सकमृ०, १३९१

गाँव में बेखटके मार रहा है चक्कर
वह कीकट को छोरा
गुन्द्रा की बैल लपेटे
नचता थिरकता फिरकनी सा
लहसुन के पौधे सा श्याम है उसका शरीर
रूक गये हैं मूसल
थम गई हैं चलनियाँ
स्तब्ध हैं पानी के घड़े
बुझ गई है आग चूल्हों की
मुँह बाये उसे सामने
ताकती रह गई हैं स्त्रियाँ गाँव की।

१५५. शीतार्तिप्रसरश्लथाकुलपदन्यासैः समुत्कम्पिभिः
पान्थैर्निदयतुच्छगोधननदद्घण्टारवैः सूचिताः।
प्राप्यन्ते हिमपीडितातिनिभृतप्रोद्गाढधूमा वन-
स्तोकालक्ष्यकुटीरकाः कथमपि प्राप्ता गिरिग्रामकाः।।

भोजदेव. शाप० ३९३३

किसी तरह पहुँचे पथिक पहाड़ी गाँव में
शीत के अकड़े डगमग डगमग पाँव बढ़ाते
काँपते आगे जैसे जैसे
इनीगिनी दुबली पतली गायों की
घंटियाँ बता रही थी——यहाँ गाँव है
हिम से सताया हुआ गाँव
चुपचाप धुँआ छोड़ता
जंगल के भीतर दो चार झोपड़ों में सिमटा।

१५६. शून्यग्रामटिकोपकण्ठरचितक्षुद्रैककूपीपयः
पर्यायार्पितसेकशाकिकहरित्कच्छप्रदेशोदभवाः
अस्मिन् हन्त हरन्ति हालिककरक्रीडाविमर्दस्फुरत्-
पक्वोर्वारुकगन्धगन्धितजरद्गोमायवो वायवः।।

शृङ्गारप्रकाश प्र. १७ पृ. ६८२

फूल उठी है
सूने गामड़े के सिवान पर
कुइया से सिची साग की बगिया
हरे भरे कछार से बहती है बयार
दाबते हैं हाथ हलवाहे के खेल कर के
पके हुए खरबूजे
खरबूजों की गन्ध
बहाती है बयार
उसी गन्ध से
पगला गये हैं बूढे सियार।

◆◆◆

(१८) गाँव की स्त्री

१५७. माल्यं मूर्धानि कर्णिकारकलिका पिष्टातकं चन्दनं
मुक्तादाम गले च काचमणयो लाक्षामया: कङ्.कणा: ।
रागो ऽङ्.गेषु हरिद्रया नयनयो रत्युल्बणं कज्जलं
वेषोऽयं विरसस्तथापि हृदयं ग्राम्या हरति स्त्रिय: ।।

अज्ञात, सुम. ९६१५

माथे पर माला और कली कनेर की, संग में पीसा चन्दन
गले में मोती की माला कांच की मणियाँ
हाथों में लाक्षा के कंगन
तन पर हल्दी का राग गहरा काजल आँखों में
सरस नहीं है यह भेस सारा
फिर भी हरती हैं मन
गाँव की स्त्रियाँ हमारा।

१५८. न तथा नागरस्त्रीणां विलासा रमयन्ति नः ।
यथा स्वभावमुग्धानि वृत्तानि ग्राम्योषिताम् ।।
तथाप्यकृतकोत्तालहासपल्लविताधरम् ।
मुखं ग्रामविलासिन्याः सकलं राज्यमर्हति ।।

भर्तृमेण्ठ, सकमृ० २।१०१, १०३

नागर महिलाओं का विलास
नहीं हमारे मन छू पाता
सहज सुन्दर भोला चरित गाँव की
नारी का हम को माता।

सहज मनोहर हास्य छटा
उसका रहा बिखेर अधर
गाँव की गौरी के इस मुख पर
पूरा इक साम्राज्य निछावर

१५९. ऋजुना निधेहि चरणौ
परिहर सखि निखिल नागराचारम् ।
इह डाकिनीति पल्लीपतिः
कटाक्षेऽपि दण्डयति ।।

गोवर्धन, आर्यासप्तशती, १४०

धीरे–धीरे धरो चरण
सखि छोड़ दो नगर की रीत यहाँ पर
इस बस्ती का मुखिया
थोड़ी सी आँखें तिरछी होने पर
डाकन कह कर दंड दिया करता है।

◆◆◆

(१९) सिवान

१६०. हलाग्रोत्कीर्णायां परिसरभुविग्रामचटका
लुठन्ति स्वच्छन्दं नखरशिखराच्छोटितमृदः।
चलत्पक्षद्वन्द्वप्रभवमरुदुत्तम्भितरजः
कणाश्लेषभ्रामद्द्रुतमुकुलितोन्मीलितदृशः॥

अज्ञात, सुरको. ११६२

खेत की धरती
जुत गई है हल की नोंक से
गाँव के पंछी लोट पोट हो रहे हैं
स्वच्छन्द उसमें
नुकीले नखों से नोचते हैं वे मिट्टी
फड़फड़ाते हैं पंख
पंख झलते हैं पंखा
पंखे से उड़ती है धूल
धूल के कणों से लिपट कर
तेजी से आँखें झपकाते और खोलते हैं पंछी।

१६१. कामं कूले नदीनामनुगिरि महिषीयूथनीडोपकण्ठे
गाहन्ते शष्पराजीरभिनवशलभग्रासलोला बलाका:।
अन्तर्विन्यस्तवीरुत्तृणमयपुरुषत्रासविघ्नं कथञ्चित्
कापोतं कोद्रवाणां कवलयति कणान् क्षेत्रकोणैकदेशे।।

योगेश्वर वही, २६४

नदियों के किनारे किनारे
ढलान पर पहाड़ की
भैंसों के झुंड जहाँ डाले हैं डेरा
उनके पास बेखटके घूमते हैं
फसल के बीचो बीचो धँस जाते हैं
बगुले ——ताजा पतिंगों के कौर के लालची
खेत में झाड़ियों के ऊपर
तिनके सजा कर
खड़ा कर दिया गया है बिजूका
उसके डर के मारे
सिकुड़े सिमटे जैसे तैसे
कबूतर चुग रहे हैं कोदों के दाने
खेत के एक कोने में।

१६२. प्रान्ते पङ्क्तिनि पल्वलस्य विलुठन् पोत्री नयत्यातपं
तृष्णालुर्निभृतं ह्रदेषु महिष: शैवालमन्विष्यति।
आचीर्णौषधिमूलशीतसुरभिश्वासानिलान् दोलयन्
प्रक्षीणोष्मणि लीयते वनगिरिश्वभ्रोदरे शल्लक: ।।

योगेश्वर, सकमृ० १२५८

पोखर के कीचड़ में घुस कर सूअर
बिताता है तेज घाम वाली दुपहर
तलैया में चुपचाप धँसा
प्यासा भैंसा
खोजता है सिवार
चुन ली गई हैं जड़ी बूटियाँ
उनके बीच शीतल सुरभित सांस से
हवा के झौंके भेजता हुआ

कम उमस वाली जंगली पहाड़ की खोह में
दुबका रहता है हिरन।

१६३. मूले लोलकरीरकन्दलघनाः काण्डे ततः पाण्डवः
किञ्चिन्मेदुरमण्डले परुषि च प्रौढप्ररूढत्वचः।
अग्रे सूत्रितपत्रषण्डगहनाःसम्प्रत्यमी प्रावृषि
क्षीणायां हरितो हरन्ति हलिनां चक्षूंषि बालेक्षवः।।

शृङ्गारप्रकाश में भोज द्वारा उद्धृत, प्र. १६, पृ. ६५३

किसानों की आँखें खींच खींच लेते हैं
बारिश में नन्हें गन्ने
नन्हें गन्ने घने हो रहे हैं जड़ों की ओर
चंचल करीर की तरह
वे पीले पड़ रहे हैं ऊपर तनों में
गदरा रही है उनकी गोलाई
कड़ी पड़ रही है छाल उनकी
फहरा रहे हैं उनके ऊपर के पत्ते
दिशाएँ फीकी पड़ गई है गन्नों के आगे।

१६४. माषीणं मुषितं यवेषु यवसश्यामच्छविः शीर्यते
ग्रामान्ताश्च मधूकधूसरभुवः स्मेरं यवानीवनम्।
पुष्पाढ्याः शतपुष्पिकाः फलभृतः सिद्ध्यन्ति सिद्धार्थकाः
स्निग्धा वास्तुकवास्तवः स्तवकितस्तम्बा च कुस्तुम्बरी।।

शुभांक, सुरको. ३२१ सकमृ. १३५१

कट गई है उड़द
जौ की फसल का
भूसा बिखर गया है
बिखरी है उसमें
फसल की श्यामल छबि।
गाँव के सिवान की धरती
धूसर है बिखरे महुओं से
हँस रहा है
खेत अजवाइन का
सौंफ में खिल आये हैं फूल

सरसों फलियों से लदी हुई है
चिकने हैं बथुवे के पत्ते
गुच्छे के गुच्छे
लटक गये हैं धनिये के पौधों पर।

१६५. **मापैर्मांसलितां तिलैस्तिलकितामुद्धूसरां धूलिभि**
र्वल्लीभिर्ललितां निमीलदवटा वाटैर्वृतां ब्रीहिभिः।
कार्पासोद्धृषितामुदारकलमोदारां कुलत्थाकुला-
मस्तोपद्रवकोद्रवामिव महीं दृष्ट्वा जनो नन्दति।।

शृङ्गारप्रकाश, १९, पृ. ७१७ में भोज द्वारा उद्धृत।

यह धरती है
देख कर इसको
हरष रहे हैं लोग
वह गदराई गदराई है उड़दों से
वह सज गई है
तिल की टिकुली से
वह धूल से सनी हुई है
बेलों से घिर कर
लगती है सुन्दर
ढक गये हैं
लग गये हैं उस पर
धान के ढेर
ऊपर उड़ा रहे हैं उसको
फाहे कपास के
धान की पकी बालियों में
कितनी उदार वह लगती है
कुलथे से पटी हुई है वह
और कोदें से भरी हुई है
शान्त उपद्रव वाली धरती।

१६६. **गर्वायन्ते पलालं प्रति पथिकशतैः पामराः स्तूयमानाः**
गोपान् गोगर्भिणीनां सुखयति बहलो रात्रिरोमन्थवाष्पः।

प्रात: पृष्ठावगाढप्रथमरवि रुचिर्ग्रामसीमोपशल्ये
शेते सिद्धार्थपुष्पच्छदनतिहिमक्लिन्नपक्ष्मा महोक्ष: ।।

योगेश्वर, सुरको. २९७

खेत के मजदूर
गरब से भर भर उठते हैं
पुआल के लालची बटोही जब गाते हैं उनके गुन।
रात में जुगाली करती हैं गाभिन गायें
उनके नथुनों से छूटी घनी भाप से
जुड़ा जाते हैं जी ग्वालों के।
गाँव के सिवान पर सोया रहता है बस्ती का साँड
सूरज की पहली पहली किरणों का परस
चाहती है पीठ उसकी
सरसों के फूलों की छाजन के बीच टपकती
ओस की बूँदों से भीगी हैं उसकी पलकें।

◆◆◆

(२०) खेत

१६७. क्षेत्रोपान्तपलायमानशशकद्वन्द्वं परीक्ष्यापरा-
नाहूयातिरसेन कर्षकजनानाबद्धकोलाहलाः।
हस्तारोपितदात्ररज्जुलगुडैर्वृद्धैरवृद्धैः सह
त्यक्त्वा शालिचिकर्तिषामित इतो धावन्त्यमी पामराः।।

अज्ञात, सूमु० १३४०

देख लिया है उन्होंने
खेत के मुहाने पर भागता
जोड़ा एक खरगोश का
हुमस कर रस में भर कर
चिल्ला चिल्ला कर
वे बुला रहे हैं
दूसरे किसानों को।
उठा ली है उन्होंने हाथों में दरातियाँ,
रस्सियाँ और लाठियाँ
बच्चों और बूढो के साथ
छोड़ कर धान की कटाई
भाग पड़े हैं मजदूर।

१६८. आहूतो हालिकेनाश्रुतमिव वचनं तस्य कृत्वा क्षणैकं
तिष्ठासुस्तब्धरोमा कथमपि विटपं निस्समीरं विहाय।
दोर्भ्यामावृत्य वक्षःस्थलमलसगतिर्दीनपादप्रचारः
शीत्कारोत्कम्पभिन्नस्फुटदधरपुटः पामरः क्षेत्रमेति ।।

अज्ञात, सकमृ. १३३९

हलवाहा आवाज दे रहा है
सुनी अनसुनी कर रहा है मजदूर
वह खड़ा रहना चाहता है
रोओं से भरी है उसकी देह।
हाथ छेदती शीतल हवा को रोकते
पेड़ के नीचे खड़ा हुआ है वह ।
अब वह चल दिया है किसी तरह अलसाई गति से
दोनों हाथों से छाती ढाँके
अकड़ गये पाँव धीरे धीरे ढेल रहा है।
काँपते उसके ओठों को चीर गई है सिसकारी
आ रहा है मजदूर खेत में।

१६९. परिचुम्बनाय घटते पामरमिथुनं निशासु चैत्रीषु।
कवलितपलाण्डुपरिमलसंवलदन्योन्यनिःश्वासम् ।।

शुभांक, वही, ८९४

चैत की रातो में
खेत का मजदूर और मेहरारू उसकी
चूम लेने को पास आते हैं
ब्यारी में खाये प्याज की
सुगंध में सनी साँसे उनकी
परस्पर गुँथ कर मिल गई हैं

•••

(२१) हलवाहे

१७०. दुरुपहितहलेषासार्गलद्वारमारात्
परिचकितपुरन्ध्रीपातिताभ्यर्णभाण्डम् ।
पवनरयतिरश्चीस्तोयधाराः प्रतीच्छन्
विशति वलितशृङ्गः पामरागारमुक्षा ।।

अज्ञात, सुरको. ११७६

पामर के घर में
घुस आया है साँड
हल की ईस टिका कर
उढकाये हुए द्वार को
धकिया कर
अंधड़ से तिरछी है पानी की बौछार
बौछार की मार से
बचने को भगा है साँड वह गोल सींगों वाला।
चौंक कर सहमी रह गई है मजदूर की घरवाली
छूट गई उसके हाथों से सहसा थाली।

१७१. भद्रं ते सदृशं यदध्वगशतैः कीर्तिस्तवोद्गीयते
स्थाने रूपमनुत्तमं सुकृतिनो दानेन कर्णो जितः।
इत्यालोच्य चिरं दृशा कृपणया दूरागतेन स्तुतः
पान्थेनैकपलालमुष्टिरूचिना गर्वायते हालिकः।।

योगेश्वर, सकमृ० ३०५ शृंप्र० भा०२ दशम प्र० पृ० ३९२

ठीक ही है महाराज कि सौ सौ बटोही गाते फिरते हैं
आपका जस
जैसा आपका जस वैसा ही आपका रूप है श्रीमान्
रूप आपका जैसा, वैसा ही सुन्दर है काम
दान से कर्ण को आपने तो बस जीत लिया है।
दूर से ही यह सब कहते हुए आता है बटोही
एक मुटठी पुआल के लालच में
बड़ी देर तक दीन दृष्टि लगाये हुए हलवाहे पर
सुन कर गर्व से फट पड़ता है हलवाहा।

१७२. लघुनि तृण कुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
स्तनकलशमहोष्मा बद्धरेखस्तुषारः।।

भवभूति, सकमृ. १३३६ दशरूपकावलोक ४/२२ सुभू. ६३।१५ में कमलायुध के नाम से

जौ के खेत के कोनें में
सो गये हैं वे फूस की झुपरिया में
हलवाहा और बहुरिया उसकी
नये धान से पुआल की सेज बिछी है
तकिया भी है उसी का
वक्षःस्थल की गर्मी के चारों ओर
रेखा भर बाँध पाता है तुषार
वह दूर दूर इनसे रहता है।

१७३. दलिते पलालपुञ्जे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते।
निभृतनिभालितवदनौ हालिकवधू-देवरौ हसतः।।

गोवर्धनः आर्यासप्तशती, ३०२

पुआल का सारा ढेर
मेट दिया इसने कुचल कुचल कर
यह कह हलवाहा मार रहा है
बैल को गुस्से में भर कर
चौरी से ताक एक दूसरे को
मुँह छिपा कर हँसते है चुपचाप
हलवाहे की बहू
और वह देवर उसका

१७४. मन्दिरमधिनरतरुणाः
परिणतकेदारपरिसरे हरिणाः।
इति युवजानिर्हलिको
गतागतैरेव यामिनीं नयति।।

अज्ञात, सुभाषितहारावली, १४३९

घर के आगे चक्कर लगा रहे हैं जवान लड़के
इधर पकी हुई धान की फसल वाले
खेत के पास घात लगाये हुए है हिरन
जवान बहू वाला हलवाहा
घर से खेत और खेत से घर
आता है, फिर जाता है
फिर जाता है, फिर आता है
सारी रात वह यों ही बिताता है।

◆◆◆

(२२) ग्वाला

१७५. अङ्.गुष्ठाक्रमवक्रिताङ्.गुलिरधः पादार्धनीरुद्धभूः
पार्श्वोद्विगकृतो निहत्य कफणिद्वन्द्वेन दंशान् मुहुः।
न्यग्जानुद्वययन्त्रयन्त्रितघटीवक्त्रान्तरालस्खलद्
धाराध्वानमनोहरं सखि पयो गां दोग्धि गोपालकः।।

उपाध्याय दामर, सुरको०, ११५७

अँगूठे पर हमला करती हैं
हाथ की उसकी अँगुलियाँ मुड़ मुड़ कर
आधे पाँव से चाप लिया है उसने धरती को
फटकारता है वह कुहनियाँ बारबार
आजू बाजू मँडराते डाँस भगाने के लिये
झुके हुए उसके घुटनों के घेरे में
सधा हुआ है घड़ा
घड़े के मुँह से उठती है ठहर ठहर कर
दूध की धार गिरने की धुन
मन को हरती हुई
देखा सखि
ग्वाला दुह रहा है गाय।

♦♦♦

(२३) शबर

१७६. तैस्तैर्जीवोपहारैरिह कुहरशिलासंश्रयामर्चयित्वा
देवीं कान्तारदुर्गां रुधिरमुपतरु क्षेत्रपालाय दत्वा।
तुम्बीवीणाविनोदव्यवहितसरकामह्नि जीर्णे पुराणीं
हालां मालूरकोषैर्युवतिसहचरा बर्बराः शीलयन्ति।।

योगेश्वर, सुरको. ११९१

जंगल के भीतर है गुफा
गुफा के भीतर
रखी हुई है एक शिला
वही देवी दुर्गा है इस जंगल की बस्ती की
पूज कर इस देवी दुर्गा को
वे खून के छींटे कर देते हैं अर्पित
खेत के देव को
वह जो वहाँ पेड़ के पास बसा करता है।
फिर वे तूम की बनी वीणा बजा बजा कर जी बहलाते हैं
दिन ढल जाने पर
बेल के कुप्पों से निकाल कर पुरानी हाला
सकोरो में ढाल ढाल कर लड़कियों के साथ
पीते हैं बर्बर शबर

१७७. मेघाटोपैःस्तनितसुभगं वीक्ष्य खं दन्तिहस्तैः
कृत्वा भित्तीरुपरि सदनं चामरैश्छादयित्वा।
कर्पूरैस्तां मृगमदरसैर्भूमिमालिप्य शेते
सैंहे चर्मण्युरसि दयिताबाहुरूढः पुलिन्दः

अज्ञात, शाप. ३८७३

नभ में घुमड़ पड़े हैं बादल
गरज गरज कर सुन्दर
देखता है वह कि आ गई है बारिश
वह हाथी दाँत की खड़ी कर देता है दीवारें
फिर छा देता है छाजन चमरी गायों के केशों से
लीप लेता है धरती को कपूर और कस्तूरी के रस से
फिर शेर की खाल बिछा कर सजाता है सेज
और सो जाता है पुलिंद
वक्ष पर उसके प्रिया है
भुजाओं में उसे भरती हुई।

१७८. वामस्कन्धनिषण्णशाङ्र्गकुटिल प्रान्तार्पिताधोमुख-
स्यन्दच्छोणितलम्बमानशशकान् वेणीस्खलच्चामरान्।
ज्यान्तप्रोतकपोतपोतनिपतद्रक्ताक्ततूणीरकान्
सो ऽपश्यत् करिकुम्भभेदजनिताक्रन्दान् पुलिन्दान् पुरः।।

अज्ञात, शाप. ५९०,
क्षेमेन्द्र, सुमु. ९६।४

देखो सामने से चला आ रहा है पुलिंद
बाँये काँधे पर रखा हुआ है उसके
धनुष टेढा
धनुष की नोक पर लटके हैं
मारे गये खरगोश खून टपकाते
वेणी में उसके झूल रहे हैं
चमरी गाय के केश
धनुष की डोर में गुँथे हैं
कबूतर के बच्चे
उनके टपकते खून में सना है उसका तरकश

जब वह चीर देता हे हाथी का मस्तक
चिंघाड उठता हैं जंगल।

१७९. मार्ग देहि पदं निधेहि निभृतं शब्दं समाकर्णय
श्वानं वारय कन्दलात् कलकल: कोऽयं सखे तावक:।
इत्यन्योन्यमनेकधा मृगवधव्यापारपारङ्गमै-
र्व्याधै: कोप्यधिको रस: प्रतिपदं जल्पद्भिरुत्पाद्यते ।।

पुष्पाकर, शाप० ५८९

रास्ता छोड़ो
आगे बढ़ो आगे
सुनो चुपचात कान लगाकर शब्द
रोको कुत्तो को
उस झुरमुट से यह शोर क्यों कर रहा है मित्र तू?
यों एक दूसरे से कई तरह से
कहते हैं
पशुओं के शिकार के व्यापार में पारंगत
बहलिये
अपनी बकझक में
कदम कदम पर
पैदा करते हैं रस।

◆◆◆

(२४) बस्ती

१८०. स्वैरं चक्रानुवृत्या महुरुपरि परिभ्रम्य सम्यक् कृतास्थ:
क्षिप्ताधोदृष्टिलक्ष्यीकृतपललशकल: पक्कणप्राङ्गणेषु ।
तीव्राध:पातपुञ्जीकृतविततचलत्पक्षपालीविशाल-
श्चिल्लश्चाण्डालपल्लीपरिजठरत: प्रोद्धरत्यर्धदग्धम् ।।

अज्ञात, सुरको. ११५०

चील मँडराती है चांडालो की बस्ती के ऊपर
ऊपर ऊपर घूमती है वह काटती चक्कर
फिर सहसा ठहर जाती है
स्थिर हैं उसकी आँखे लक्ष्य पर नीचे
नीचे चांडालों की बस्ती है
बस्ती में झोपड़ी है
झोपड़ी में पड़ा है
कच्चे मांस का टुकड़ा
चील तेजीसे झपटती है नीचे
फैल कर सहसा सिकुड़ते हैं पंख उसके
बस्ती के पेट से
अधजले मांस का टुकड़ा
खींच कर सर्रा कर उड़ती है
चील —— जो मँडराती है चांडालों की बस्ती पर।

८१. रज्जुच्छेदरयोन्नमद्भुजलताव्यक्तैकपार्श्वस्तनी
सूत्रच्छेदविलोलशङ्खवलयश्रेणीझणत्कारिणी
तिर्यग्विस्तृतपीवरोरुयुगला पृष्ठानतिव्याकृता
भोगश्रेणिरुदस्यति मुहुः कूपादपः पामरी।

शरण, वही, ११५२

वह भर रही हैं कुए से पानी
मजूदर की स्त्री
वह सर्र से फैंकती है रस्सी नीचे गहरे में
झन्न से ऊपर उठती है उसकी बाँह
झट से झाँकता है उसका एक ओर का वक्ष
टूट जाता है हार और टपक पड़ती हैं
झनन झनन करती
शंख और वलयों की पांतें
झुकती है वह तिरछी हो कर
बल खा कर फैल जाता है कटि के नीचे का पुथुल भाग
झुकी पीठ उसकी लेती है विस्तार
मजदूर की स्त्री
खींच रही है कुँए से पानी।

•••

(२५) बटोही

१८२. प्रातर्वाष्पाम्बुबिन्दुव्यतिकरविगलत्क्लिन्नसक्कः कथञ्चित्
किञ्चित् सङ्कुब्जङ्घाजनितजडजवो जीर्णजानुर्जरार्तः।
मुष्ट्यावष्टभ्ययष्टिं कटिपुटविचटत्कर्पटः प्लुष्टकन्थाः
कुन्थन्नुत्थाय पान्थः पथि परूषमरुन्मूच्छर्यमानः प्रयाति।।

बाण वही, १३०४

सबेरा हुआ
आँखो से गिरे आँसुओं से ही
भिगोये उसने ओठ
वह उठा
किसी तरह जोर लगाकर
सो गई और झुकी पड़ती पिंडलियो के बल पर
बुढापे के मारे घुटने फिर भी सीधे हो न सके।
मुट्ठी में भींच कर लकड़ी, जो उठा
तो चर्र से फट गया कमर में बँधा कपड़ा
तार तार हुई कथरी सँभाले
खाँसता हुआ उठ कर
जो चला,तो झमा आ गया खाकर
हवा के थपेड़ों की पैनी मार
फिर भी घिसट रहा है बटोही लगातार।

१८३. आरात् कारीषवह्नेः प्रविरचिततृणप्रस्तरान्तर्निषण्णैः
संशीर्णग्रन्थिकन्थाविवरवशविशच्छीतवाताभिभूतैः।
नीता कृच्छ्रेण पान्थैः श्वभिरिव निविडं जानुसङ्कोचकुब्जै-
रन्तर्दुवारदुःखद्विगुणतरवृतायामयामास्त्रियामाः।।

अज्ञात, सुभा. २४१७

कंडे की आग के आसपास
पत्थर पर बिछा कर फूस घास
वे बैठ गये हैं गठरी बन कर
तार तार हुई कथरियों के छेदों से
घुस घुस कर
मारे डाल रही है उन्हें
ठंडी बयार
कुत्तों की तरह घुटने सिकोड़ कर कुबड़े बन कर
बैठे बटोही बिता रहे हैं
भीतर के दुख से दुगनी हुई
तीन पहर वाली जाड़े की रात
जिसका हर पहर
कई कई पहरों का।

१८४. रुन्धानः कर्णसन्धी शिशिरभरभयात् पाणियुग्मेन गाढं
बाढं विन्यस्य बाहुद्वयमुरसि रणद्दन्तपङ्क्तिद्वयाग्रः
अष्ठीवद्भ्यां विचुम्बन्निपतितचिबुकं पृष्ठमात्रं हिमर्तौ
शेते सञ्छाद्यसद्यस्त्रुटितचिरजरत्कन्थया पान्थरङ्कः।।

सुव्रतदत्त, सकमृ० १३४३

जाड़े के डर से
दोनो कान ढाँप ढाँप लेता है वह हाथो से कस कर
फिर बाजुओं से कस कर बाँधता है छाती
कटकटा कर बज रहे हैं उसके दाँत
उसके घुटने झुकी हुई ठुड्डी को चूम रहे हैं
बहुत पुरानी फटी हुई कथरी से
किसी तरह पीठ भर ढाँके हुए
गरीब बटोही

सोया है किसी तरह
जाड़े की रात में।

१८५. पुण्याग्नौ पूर्णवाञ्छः प्रथमगणितप्लोषदोषःप्रदोषे
पान्थस्तप्त्वा प्रसुप्तस्तदनु तततृणे धामनि ग्रामदेव्याः।
उत्कम्पी कर्पटार्धे जरति परिजडे च्छिद्रिणि च्छिन्ननिद्रो
वाते वाति प्रकामं हिमकणिनि कणन् कोणतः कोणमेति ।।
बाण, सुरको, १३०५ सूमु. ६४/१२

पावन आग के आगे तापते हुए
बिल्कुल अखरा नहीं था जाड़ा
सन्ध्या के समय तो
ताप कर सो गया बटोही
पुआल बिछाकर
गाँव की देवी के मन्दिर में
फिर कँपकँपी छूटी
कई कई छेदों वाला कपड़ा आधा
ढाक नहीं पाया तन
टूट गई नींद
हिम से भरी बहने लगी हवा
बटोही उलट पलट हो रहा है
इस कोने से उस कोने में ।।

१८६. मातर्धर्मरते दयां कुरु मयि श्रान्ते हि वैदेशिके
द्वारालिन्दककोणकेषु निभृतः स्थित्वा क्षिपामि क्षपाम्।
इत्येवं गृहिणी प्रचण्डवदनावाक्येननिर्भर्त्सितः
स्कन्धे न्यस्तपलालमुष्टिविभवः पान्थः शनैर्गच्छति।।
शतानन्द, वही, १३१६

ए धर्ममयी माँ तनिक दया कर
थक कर चूर हुए इस परदेसी पर
यहीं द्वार के निकट बस बाहर बाहर
कोने में चुपचाप पड़ा रह कर
रात बिता लूँगा बस।

यह सुन कर घरवाली
आग बबूला हो कर
देती है ऐसी फटकार
करती जो पैनी मार
काँधे पर मुट्ठी पर पुआल की धरे धरोहर
आगे बढ़ जाता है बटोही
झिड़की खा कर
फिर एक बार।

१८७. संविष्टो ग्रामदेव्याः कटघटितकुटीकुड्यकोणेकदेशे
शीते संवाति वायौ हिमकणिनि नदद्न्तपङ्क्तिद्वयाग्रः।
पान्थः कन्थां निशीथेपरिकुथितजरातन्तुसन्तानगुर्वी
ग्रीवापादाग्रजानुग्रहणचटचटत्कर्पटं प्रावृणोति।।

अज्ञात, सूमु. ६४। १३ सकमृ० १३४५

सोया है वह
गाँव की देवी के मन्दिर में आ कर
भीत के सहारे एक कोने में
बिछा कर टूटी हुई चटाई।
ठंडी हवा चलने लगी है बर्फीली
बज बज उठती हैं उसकी उसकी दाँतों की पाँतें
आधी रात में
वह उघड़ी बार बार सिली गई
कथरी को लपेट कर ढकता है देह
गरदन से सरकाते हुए एड़ी तक
घुटने ढकते ढकते चटचटा कर
फट पड़ती है ओढनी।

१८८. ग्रीष्मोष्मप्लोषशुष्यत्पयसि वकभयोद्भ्रान्तपाठीनभाजि
प्रायः पङ्कैकभावं गतवति सरसि स्वल्पतोये लुठित्वा
कृत्वा कृत्वा जलार्द्रीकृतमुपरि जरत्कर्पटाग्रं प्रपायां
तोयं लब्ध्वापि पान्थः पथि चलति हहा हेति कुर्वन् पिपासुः।।

बाण, सुभा. १७१६, शाप० ३८५५

गर्मी में झुलस कर सूख रहे पानी में
बगुले के डर से बिलबिलाती हैं मछलियाँ
पानी नहीं हैं, कोचड़ का गड्ढा भर है तालाब
उसी में लोट पोट कर निपटाया है उसने स्नान।
फिर प्याऊ पर
चिथड़े का एक सिरा भिगो भिगो कर
उसके माथे पर धर कर
और पानी पी पी कर
चला है तो प्यास से फिर सूखा है गला
—हाय, हाय — इतना बटोही के मुंह से निकला।

१८९. सर्वाशारुधि दग्धवीरुधि सदा सारङ्मबद्धक्रुधि
क्षामक्ष्मारुहि मन्दमुन्मधुलिहि स्वच्छन्दकुन्दद्रुहि।
शुष्यत्स्रोतसि तप्तभूरिरजसि ज्वालायमानार्णसि
ज्येष्ठे मासि खरार्कतेजसि कथं पान्थ व्रजन् जीवसि? ।।

बाण, शाप. ३८५५४

रूँधी हुई हैं सभी दिशाएँ
झुलस गई हैं और लताएँ
लगातार गुस्साया है सूरज भी
दुबला गये हैं पेड़ और मन्दा है
गुंजन भौंरों का, पाबंदी है
कुंद के खिलने पर, सूख रहे हैं सभी सरोवर
तपती है धूल, ज्वालाएँ
उठती हैं जल से
प्रखर तेज है सूरज का
ऐसे इस जेठ मास में
चल रहे हो तुम, और
बटोही, फिर भी जीवित हो
कैसे आखिर ?

१९०. वाताकीर्णविशीर्णवीरणतृणश्रेणीझणत्कारिणि
ग्रीष्मे सोष्मणि चण्डसूर्यकिरणप्रक्क्वाथ्यमानाम्भसि।

चित्तारोपितकामिनीमुखशशिज्योत्स्नाहृतक्लान्तयो
मध्याह्नेऽपि सुखं प्रयान्ति पथिकाः स्वं देशमुत्कण्ठिताः।।

वही, वही. ३८५६

बिछ गये हैं गर्मी की हवाओं से छितराये
खस धरती पर
दुपहरी में उन पर चलने से
होती है चरमराहट
लगा हुआ है तपा, प्रचंड है सूरज
उबलता है जल उसकी किरणों से
फिर भी
चित्त में प्रिया को बिठाये हुए
उसके मुखचंद्र की चाँदनी में थकन मिटाते हुए
इस दुपहरी में
चल रहे है बटोही बड़े आराम से
उत्कंठा है उनके जी में
घर पहुँचने की।

१९१. भ्राम्यच्चीत्कारचक्रभ्रमभरितघटीयन्त्रचक्रप्रमुक्त-
स्रोतःपूर्णप्रणालीपथसःरणिशिरासारिसीत्कारवारि।
कौपं पान्थाः प्रकामं सितमणिमुसलाकारविस्फारधारं
विक्षिप्तक्षुण्णमुक्ताकणनिकरनिभासारपातं पिबन्ति।।

वही, वही, ३८५७

कुएँ की रहट घुमाते ही
चीखते हैं पहिये
भरते हैं रहट में लगे घड़े
भर जाती हैं नालियाँ
वह उठता है लहरा कर जल।
चमकती है सफेद मणियों के मूसल सी धार
जी भर कर पीते हैं बटोही
अंजलि में बौछार
सफेद मोतियों के चूर्ण की।

१९२. ग्रामेस्मिन् पथिकाय पान्थ वसतिर्नवाधुना दीयते
रात्रावत्र विवाहमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोद्गीय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत् कृतं
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ।।

अज्ञात, शाप०, ३८९३

सुनो बटोही, यहाँ गाँव में
किसी पथिक को अब हम
देते नहीं बसेरा
पले यहाँ विवाह मंडप में
डाला था एक युवा पथिक ने डेरा
रात हुई थी, वह सोया था
और गरज पड़े बादल
दुष्ट ने रो गा गा कर
स्मरण प्रिया का कर के
जो कुछ यहाँ किया उस सबसे
डरते हैं लोग गाँव के
कि ढहने को हैं अब इस मंडप के खंभे।

१९३. भ्रातः पान्थ प्रसीद प्रतिविरम समुत्सृज्य बालामकाण्डे
गन्तुं वाष्पाम्बुपूरप्लुत नयनमुखीं प्रेयसीं ते न युक्तम्।
वृत्तं ग्रामे ऽतिकष्टं यदिह गृहपतेः प्रोषितस्य प्रियाया
मुक्ताक्रन्दांत्वमेतान् सलिलवितरणे निर्गतान् पश्य बन्धून् ।।

शङ्कुक, शाप ३८९४

भैया बटोही मान जाओ
और ठहर ही जाओ
वह जो प्रिया है तुम्हारी
आँसू की बाढ से डबडब नयनों वाली
उस गुइयाँ को छोड़ चले जाना यों बेमौके
ठीक न होगा।
इसी गाँव के गृहस्थ एक बाहर चले गये थे,
बहुत बुरा हो गया उनकी घरवाली का

देख लो चीखते हुए
तिलांजलि देने जाते उनके बन्धुओं को।

१९४. अयं शून्यो ग्रामः पुरसदनमेतन्निपतितं
पुरः शुष्का वापी तरुरयमितः शीर्णविटपः
वयं चैते पान्थाः परिकृशदशा भाग्यवशतः
समानःसंयोगः कटुरपिमनो मे रमयति ।।

सुभाषितहारावली, ८५२, सुमु० १२७।६

सूना है गाँव, खंडहर है सराय
सूख गई है बावड़ी और सामने
नंगा खड़ा हुआ है पेड़
और हम बटोही
भाग्य के उलट फेर से
हालत हमारी भी पतली
कैसा है यह समान संयोग
कड़वा है, फिर भी भा रहा है मन को।

१९५. नीयन्ते दिवसाः प्रतप्तकटकग्रावोष्मगाधक्वथ-
प्रारम्भाः पथिकैः क्लमव्यपरमत्तापा गिरिग्रामके।
नैदाघ्यं करभागकुड्मलभिदः पश्चार्धशीतानिल-
प्रत्याश्वस्तमयूरनादसुभगा दण्डोदरा रात्रयः।।

(भोज द्वारा शृंगारप्रकाश - १६, पृ. ६६३ में उद्घृत)

दिन शुरू होते ही
तपने लगती हैं घाटियाँ
उबलते है गर्म पत्थरों के बीच डबरे
धीरे धीरे टूटता है ताप
रातों में बहती शीतल हवा
आश्वस्त हो कर मोर कूक उठते हैं
और उससे सुहावनी होती जाती है रात
पहाड़ी गाँव में
बटोही इसी तरह काट रहे हैं समय ।

१९६. पृष्ठारोपितकर्पटस्य विसरद्वाष्पम्बुसक्तात्मनः
कुब्जीभूततनोर्निर्विष्टवदनस्याभ्यन्तरे जानुनोः।
निस्सङ्गं भुजयुग्मपीडनवशाच्छश्वत्कवोष्णो रसः
पान्थस्योद्गतवह्नि राशिनिचये याति क्षपा शैशिरी ।।

अज्ञात, सुमु. ६४। ११

पीठ पर चिथड़ा डाल रखा है उसने
बहते आँसू देह धो रहे हैं
बन कर कुबड़ा सिकोड़ कर शरीर
घुटनों के बीच चेहरा धँसा लिया है उसने
बिना संगी के
खुद को ही खुद से लिपटा लिया है उसने
बाहो में भरपूर, बरबस
और चखा है कसैला रस
सामने जलती
आग की लपट के
उठ रहें हैं पुंज उसके आगे
कट रही है रात
बटोही की।

१९७. अन्योन्याहति दन्तनादमधुरं प्रह्वं मुखं कुर्वता
नेत्रे साश्रुकणे निमील्य पुलकव्यासड़्गिकण्डूयता।
हा हा हेति सुनिष्ठुरं विवदता बाहू प्रसार्य क्षणं
पुण्याग्निः पथिकेन पीयत इव ज्वालाहतश्मश्रुणा।।

बाण, शाप० ३९३४

दाँत उसके कटकटा रहे हैं मधुर नाद में बजते
चेहरा उसने झुका लिया है
आँखों में झलक उठे हैं कन आँसू के
मूँद कर उन आँखों को
खुजा रहा है वह देह
पुलक देह में भर भर कर
हा– हा– यह कह कह कर

और भुजाएँ फैला कर
लपटों से मूँछें अपनी झुलसा कर
पी रहा है बटोही
पावन आग।

१९८. स्वैरं सञ्चरति प्रदोषमरुति त्वङ्गत्तुषारे जर-
त्तन्तुच्छेदविशीर्णसन्धिशकलव्याकृष्टकन्था चलः।
शीतार्तः करुणार्द्रहालिकविनिर्दिष्टे क्षपामि क्षमा-
मित्युच्चार्य पलालकूटकुहरे श्रान्तः प्रसुप्तोऽध्वगः।।
सकमृ. ३४२

बर्फ में लिपटी हुई बह रही है प्रदोष की हवा
तार तार हो गई उधड़ी सिलाई वाली कथरी
खींच ली है बटोही ने
बता दिया है दयालु हलवाहे ने एक कोना
बस, रात बिताना है इतना कह कर
पुआल के ढेर में घुस कर
थकान से चूर
ठिठुरता हुआ शीत से
गाडी नींद में जा डूबा है वह।

•••

(२६) बटोही की घरवाली

१९९. अन्तर्मन्युविभिन्नदीर्घरसितप्रोद्भूतकण्ठव्यथै-
राकुष्टास्तटिनीषु कोकमिथुनैर्यावन्निशीथं मिथ:।
शीतोज्जागरजम्बुकोघमुखरग्रामोपकण्ठस्थला:
कृच्छ्रेणोपरमन्ति पान्थगृहिणी चिन्तायता रात्रय:।।

अभिनन्द, सकमु. १३३१

रातें बटोही की घरवाली की
बहुत कठिनाई से बीतती हैं,
रातें चिन्ता के कारण फैली–फैली हैं,
रातें, जिनमें उठती है तेज चीख
चकवा–चकई की
व्यथा से टूटती हुई कूक वाली
रातें, जिनमें जागते रहते हैं सियार
गाँव के सिवान पर
लगातार करते रहते हैं हुँआ–हुँआ।

◆◆◆

(२७) प्याऊ

२००. दूरादेव कृतोऽञ्जलिर्न स पुनः पानीयपानीचितो
रूपालोकनविस्मितेन चलितं मूर्ध्ना न शान्त्या तृषः।
रोमाञ्चो पि निरन्तरं प्रकटितः प्रीत्या न शैत्यादपा-
मक्षुण्णो विधिरध्वगेन घटितो वीक्ष्य प्रपापालिकाम्।

वाण, सुरको. ५१४, शाप ३८५९ सुभा. १७०९

पानी पीने के लिये नहीं थे वे
दूर से ही बाँध लिये थे जो हाथ
देख कर उसको।
प्यास बुझने से नहीं झूमा था माथा
उसका रूप ताकते चकित बटोही का
ठंडे पानी से नहीं उठे थे घने रोएँ
प्रेम का रोमांच था वह
प्याऊ वाली को देख कर
बटोही ने
तरीका जा अपनाया
अधूरा नहीं रहा वह।

२०१. अङ्. गुल्यग्रनिरोधनस्तनुतरां धारामियं तन्वती
कर्कया न परं पयो निपुणिका दातुं प्रपापालिका।
विश्लिष्टाङ्गुलिना करेण दशनापीडं शनैः पान्थ हे
निःस्पन्दोर्ध्वविलोकनं त्वमपि ही जानासि पातुं पयः।।

अज्ञात, शाप ३८५८ सुभा० १७११

गगरी का मुँह छेके लम्बी अँगुलियो से
जितनी ही पतली धार गिराती है पानी की
चतुर यह प्याऊ वाली
बटोही जानते हो तुम भी पानी पीना
छितराये अंगुलियाँ अपनी अंजुरी की
दाँत सटाये दाँतो से
निःस्पन्द ताकते ऊपर

२०२. गन्तुं सत्वरमीहसे यदि गृहं व्यालोलवेणीलतां
द्रष्टुं वा स्वकुटम्बिनीमनुदिनं कान्तां समुत्कण्ठसे ।
तत् तृष्यन्नपि मुग्धमन्थरवलन्नेत्रान्तरुद्धाध्वगा-
मेतां दूरत एव हे परिहर भ्रातः प्रपापालिकाम्।।

अज्ञात, वही ३८६०, सुभा. १७१२

यदि चाह रहे हो झटपट घर जाना
चंचल एक वेणी बाँधे
अपनी प्रिया घरवाली को
देखने को यदि हो उत्कंठित
तो सीधे बढ जाना आगे
भोले भाले मन्थर तिरछे नयनों से
जो रोक बटोही को लेती है
उस प्याऊ वाली के
फटकना भी मत पास कहीं से
चाहे जितनी प्यास लगी हो।

◆◆◆

(२८) वसन्त

२०३. चिन्बानामिर्मधूकं मधुरमधुकरध्वनिचूताङ्कुराग्र
ग्रासव्यग्रान्यपुष्टध्वनितजयारम्भसंरम्भणामिः।
गीयन्ते वल्लवीभिः पथिकसहचरीप्राणयात्राप्रदीपाः
प्रातः प्रातर्वसन्तस्वररचितपदोद्गारिणो गीतिभेदाः।।

विरिंचि, सकसृ० १०६४

वसन्त की भोर है वसन्ती
गा रही हैं ग्वालिने
वसन्ती स्वरो में रचे गये पदो के
गीत तरह तरह के।
महुए बीन रही हैं ग्वालिने
भौरे मँड़रा रहे हैं आम की बौरों पर
मधुर गुंजन करते हुए
आम की बौर का कौर ले कर
कूक उठी है कोयल
भौरो और कोयलों के सुर के ऊपर सुर भर कर
गा रही हैं गीत ग्वालिने।
बटोहियों की घरवालियों की जान में जान
डाल देते हैं गीत
जिन्हें गा रही हैं ग्वालिनें।

(२९) ग्रीष्म

२०४. पाषाण: कुलिशायते पुरपथं सन्तप्तलोहायते
निर्वाणं दहनायते निविडाङ्गारायते शर्करा।
एतस्मिंस्तरुणप्रचण्डमहस: प्रौढातपे सर्वत:
क्षोणी शुष्यति बालुका च सरितां वह्निस्फुलिङ्गायते ।।

भवानन्द, वही, १२६०

हो रहे हैं वज्र पत्थर
तपा हुआ लोहा हो रहा है पुर का पथ
लपट हो रही हैं उमस और गिट्टियाँ
हो रही हैं अंगारे।
यौवन पर आ गई है गर्मी
प्रचंड है उसका तेज
सब तरफ है पकी हुई धूप
सूखी है धरती, रेत नदियों के तट की
हो रही हैं चिंगारियाँ

२०५. अहमिव शून्यमरण्यं वयमिव तनुतां गतानि सलिलानि।
अस्माकमिवोच्छ्वासा दिवसा दीर्घाश्च तप्ताश्च।।

अज्ञात, सुभा० १७०१

सूना जंगल ! मेरी तरह
दुबलाये तालाब हम लोगों की तरह
दिन लम्बे और तपते हुए
हमारी साँसो की तरह

२०६. अमी व्यर्थारम्भा दुरधिगमभूभृत्परिसरे
विषक्ता लक्ष्यन्ते वयमिव हताशा जलधराः।
ममेवान्तश्चेष्टाविफलविपुलाकारविभवाः
स्वभूमौ यान्तीमा परिणतिमसंख्याश्च सरितः।।

जयवर्धन, वही, १७०५

बेकार में सिर उठाये
अलंघ्य पहाड़ के परिसर में
अधर में लटक कर रह गये
हताश हैं हमारी तरफ बादल
निष्फल हैं बड़े बड़े आकार
इन असंख्य नदियों के
अपनी धरती पर ही तो बिलम कर रह गई हैं ये
मेरी इच्छाओं की तरह

२०७. मध्याह्नार्कक्वथितविरसे पल्वले चाम्बु पीत्वा
दावव्याप्तं वनमशरणं सर्वतः सन्निरीक्ष्य।
सन्तापेन प्रतिभयवता सन्निरुद्धः समन्ता
दात्मच्छायां विशति महिषो मण्डलीभूतदेहः।।

मातृषेण, वही, १७०६

दुपहर में उबलता बेस्वाद पानी
पिया पोखर से
फिर देखा —— सब ओर फैली थी आग
असहाय जल रहा था जंगल
वह झुलसा, डरा और रुँध गया सब तरफ से
सिकुड़ कर अपनी ही छाया में
धँसा जा रहा भैंसा।

२०८. जाताः पान्थनखम्पचाः प्रचयिनो गन्त्रीपथे पांसवः
कासारोदरशेषमम्बु महिषो मथ्नाति ताम्यत्तिमि।
दृष्टिर्धावति घातकी वनमसृक्तर्षेण तारक्षवी
कण्ठान् बिभ्रति विष्किराः शरशमीनीडेषु नाडिन्धमान्।।

बाण, सुरको. २०४

बैलगाड़ी की गैल पर धूल के ढेर
पका रहे हैं बटोहियों की एड़ियों के नख
पोखर के गड्ढे में बचे हुए पानी को
मथता है भैंसा बिलबिलाती हैं मछलियाँ
लकड़बग्धे की हिंसक आँखें दौड़ती हैं दूर दूर तक
खून की प्यास से
शमी के पेड़ पर बने घोंसलों में
धौंकनी की तरह चल रहे हैं
कंठ चिड़ियों के

२०९. अग्रे तप्तजला नितान्तशिशिरा मूले मुहुर्बाहुभि-
व्यामथ्योपरतप्रपेषु पथिकैकर्मर्गिषु मध्यन्दिने।
आधाराः प्लुतबालशैवलदलच्छेदावकीर्णोर्मयः
पीयन्ते हलमुक्तमग्नमहिषप्रक्षोभपर्याविलाः ।।

योगेश्वर, वही, २०६

भरी दुपहर बटोही पी रहे हैं जल
ऊपर ऊपर उबल रहा है जल
पर पैंदी में है वह अतिशय शीतल
बन्द हो चुके आसपास के प्याऊ
बटोही काई हटा हटा कर पी रहे हैं जल
काई के कतरे लहरों के संग तिरते हैं जल में
हल से मुक्त हुए भैंसो के आ धँसने से
मटमैला है जल।

२१०. कारञ्जीः कञ्जयन्तो निजजठररवव्यञ्जितावीरकोशा-
नुत्पाकान् कृष्णलानां पृथुसुषिरगतान् शिम्बिकान् पाटयन्तः।
झिल्लीकाझल्लरीणां बधिरितकुकुभं झङ्कृतं खे क्षिपन्तः
शिञ्जानाश्वत्थपत्रप्रकरझणझणारावविणो वान्ति वाताः।।

बाणभट्ट शाप० ३८५१

बह रही हैं गर्मी की हवाएँ
कंज के कुंज को झकझोरती हुई
गूँजते सुरों के साथ तितर बितर करती खस की घासों को
पक कर चटक रही घुँघची की फलियों को चीरती हुई

बह रही है गर्मी की हवाएँ।
बह रही है गर्मी की हवाएँ
झींगुर की झाँझ से दिशाओं को बहरा बनाती हुई
आकाश तक उनकी झंकार को उछालती हुई
रूनझुन करते बड़ के पत्तों पर
झनझना कर बह रही हैं
गर्मी की हवाएँ

२११. प्रतिगतमर्थिजनानां विच्छिन्नाशं समूहमवलोक्य
स्फुटितमयशस्तापादिव हृदयतलं तडागस्य।

अज्ञात, वही, ३८२५

आते हैं प्यासे लोगों के झुंड के झुंड
लौट जाते हैं टूटी हुई आशा के साथ
यह देख देख कर
बदनामी के दुख से
फूट गया है मन का पैंदा
इस तडाग का।

२१२. तप्ता मही विरहिणामिव चित्तभूमि-
स्तृणाध्वगेषु कृपणेष्विव वृद्धिमेता।
सूर्यः करैर्दहति दुर्वचनैः खलो नु
छाया सतीव न न मुञ्चति पादमूलम्।।

अज्ञात, वही, ३८२४

तप रही है धरती
विरही के मन की धरती जैसी
कंजूस के भीतर तृष्णा की तरह
बढ़ती है प्यास बटोहियो के भीतर
सूरज जला रहा है किरणो से
जैसे दुष्ट जलाता हे दुर्वचनों से
सती स्त्री जैसी छाया
चिपक कर लिपटी है
पेड़ के चरणों के मूल से।

◆◆◆

(३०) वर्षा

२१३. मन्दं मुद्रितपांसवः परिपतज्झाङ्.कारिझञ्झामरु-
द्वेगध्वस्तकुटीरकायनिपतच्छिद्रेषु लब्धान्तराः।
कर्मव्यग्रकुटुम्बिनीकुचभरप्रस्वेदभेदच्छिदः
प्रारम्भे मदयन्ति कन्दलदलोल्लासाः पयोबिन्दवः ।।

अज्ञात, शाप० ३८७१

वर्षा की पहली बूदें
धीरे से मूँद रही हैं धूल
वर्षा की पहली बूँदें
झनझनाती झंझा के तूफानी
अंधड़ में ध्वस्त झोंपडी
की काया को छेद छेद कर
घुस घुस पड़ती है भीतर
काम में लगी घरवाली के वक्षः स्थल से
झर रहे पसीने की बूंदों को करती है तितर बितर
वर्षा की पहली बूंदें ।
कंदलियों कंदल को खिला गई हैं
वर्षा की पहली बूंदें
मद से भर गई हैं।

२१४. किञ्चिन्मुद्रितपांसव: शिखिकुलै: सानन्दमालोकिता:
भग्नावासरुदद्दरिद्रगृहिणी श्वासानिलैर्जजरा: ।
एते ते निपतन्ति नूतनघनात् प्रावृड्भवारम्भिणो
विच्छायीकृतविप्रयुक्त वनितावक्त्रेन्दवो विन्ब: ।।

अज्ञात, सकमृ, १२७९, शाप. ३८७२

कुछ बैठ चली है धूल बर्षा की बूँदों से
मोर मगन हो कर
निहारते हैं ऊपर वर्षा की बूँदे
गरीब की घरवाली
छोड़ती है साँस रो–रो कर
उसकी साँसो से हो गई हैं जर्जर छार छार बिखर
बर्षा की बूँदे
नये नये बादल से
गिरी हैं बर्षा की बूँदे
वर्षा को सम्भव
बना गई हैं वर्षा की बूँदे
विरहिणी के मुखचन्द्र को
फीका बना गई हैं
वर्षा की बूँदे।

२१५. आसारान्तमृदुप्रतप्तमरुतो मेघोपलिप्ताम्बरा
विद्युत्पातमुहूर्तदृष्टकुकभ: सुप्तेन्दुताराग्रहा:
धाराक्लिन्नकदम्बसम्भृतसुरामोदोद्वहा: प्रोक्षितै–
र्नि:सम्पातविसारिदर्दुररवा नीता कथं रात्रय: ।।

योगेश्वर, सुरको. २२०

बह रही हैं ठंडी बयार धीरे धीरे
मूसलाधार बारिश के बाद
बादलों से लिपा हुआ है आकाश
बिजली की कौध में एक क्षण को देखी जा सकती है दिशाएँ
सो गये हैं चन्द्रमा, तारे और नक्षत्र
बौछारों से भीगे कदम्ब से फूटती है मादक सुगन्ध

और लगातार गूँजती है मेढको की टर्र टर्र
बटोही ऐसी ये राते बिताये तो बिताये कैसे ?

२१६. इदानीं वंशीनां शबरमिथुनांच्छृङ्खलरह:
क्रियासख्येनालं गिरिवनसरिद्ग्रामसुहृदाम् ।
स्फुल्लोमश्यामच्छगलशिशुकर्णप्रतिसम-
च्छदाग्राभिस्त्वग्भिर्वलयितकरीरास्तलभुव: ।।

अज्ञात, सुरको. २३७

बहुत हो गया
भीलों के जोड़ों का
एकान्त में उच्छृंखल मिलन
पहाड़, जंगल, नदियो और गाँव की मिताई के साथ
गूँजती बाँसुरी के सुर
बकरी के छौने के कानों पर
रेंगते रोओं की तरह साँवली
करीर की हरी झाड़ियों से
पटी पड़ी है धरती

२१७. एता: पङ्किलकूलरूढनलदस्तम्बक्वणत्कम्बव:
कीडत्कर्कटचक्रवालविदलज्जम्बालतोयाविला: ।
हृल्लेखं जनयन्यनूपसरितामुत्तुण्डगण्डूपदा-
त्कीर्णक्लिन्नमृदो नदस्थपुटितप्रान्तास्तटीभूमय: ।।

योगेश्वर, वही, २५४

कीचड़ से सने कूल पर उगे नर कुल के तनों से
टकरा कर बजते हैं शंख
खेलते हैं केकड़े और चकवे
रौंदते हुए पानी में सेवार
केंचुए मुँह उठाये रेखा बनाते हुए रेंगते हैं गीली मिट्टी पर
नाले से घिरी नदी के कछार की यह धरती
चित्त पर अँकती लगती हैं।

२१८. तावद्वाचः प्रयुक्ता मनसि विनिहिता जीविताशापि तावद्
विक्षिप्ता तावदङ्घ्रौ पथि पथिकजनैर्लम्भिता तावदाशा।
फुल्लद्धाराकदम्बस्तवककवलयिता यावदेते न दृष्टा
निर्मुक्तव्यालनीलद्युतिनवजलदव्याकुला विन्ध्यपादाः।।

योगेश्वर, सुरको, २६३

पथिको के द्वारा
तभी तक की जाती रही बतकही
तभी तक धारी गई मन के भीतर
आस जीवन की
तभी तक बढ़ते रहे पाँव
रास्ते पर आगे
तभी तक बूझे जा सके और छोर दिशाओ के
जब तक कि देख नहीं लिये गये ये
विन्ध्याचल के ढलान।
फूलते कदम्बों के गुच्छों के कंगन पहने हुए
ये विन्ध्याचल के ढलान
बिलबिलाते साँपों की तरह
चमचमाते काले बादलों से अकुलाये
ये विन्ध्याचल के ढलान।

◆◆◆

५६।ः।

(३१) शरद्

२१९. आपीनप्रविसारितोरुविकटैः पश्चार्धभागैर्गुरु
वैल्लत्पीवरकम्बलालसरसद्गम्भीरघण्टाकुलः।
ग्रामान्तेषु नवीनसस्यहरितेषूद्दामचन्द्रातप-
स्मेरासु क्षणदासु धेनुधवलीवर्गः परिक्रामति।।
अज्ञात, सुरको. २७९

परकम्मा कर रहे हैं
गाँव के सिवान पर
धौली धौली गायों के झुंड
नई फसल में हरे भरे दिखते है गाँव के सिवान
थनों के ऊपर भर गये दूध के कुंडों से
विकट गति करता है पिछला हिस्सा गायों का
हिलती हैं लहलहाती गले की उनकी मोटी झालरें।
बजती हैं टनटनाती घंटियाँ गलों की
चटकती चाँदनी में विहसती रात में
परकम्पा कर रहे हैं
गाँव के सिवान पर
धौली धौली गायों के झुंड।

२२०. इक्षुत्वक्क्षोदसारा: शकटसरणयो धीरधूलीपताका:
पाकस्वीकारनम्रे शिरसि निविशते शूकशाले: शुकाली।
केदारै: प्रणाले प्रविशति शफरीपङ्क्तितराधारमारा-
दच्छ: कच्छेषु पङ्क: सुखयति सरितामातपादुक्षपालम् ।।

अभिनन्द, सुरको, २८२

गन्ने के गठ्ठर के गठ्ठर लादे
बैलगाड़ियों की पाँतें
बढ़ती हैं आगे
धूल की झंडिया तनी हैं उन पर ।
पक कर झुक झुक आई हैं धान की बालें
तोते टूट रहे हैं उन पर
खेत की मेड़ से बँधी नालियों से
मछलियो की पाँत भीतर घुसी पड़ती हैं
कछार का उजला कीचड़
नदी किनारे
सुख देता है गाड़ीवान् को।

◆◆◆

संस्कृत पाठक

(३२) हेमन्त

२२१. प्रावरणैरङ्गारैर्गर्भगृहैः स्तनतटैश्च दयितानाम्।
सन्तर्जितमाढ्यानां निपतति शीतं दरिद्रेषु।।
अज्ञात, शाप० ३९३७

औढनियों से, अंगारों से, तहखानों से
और प्रियाओ के वक्षःस्थल से
रईसों के घर में दुत्कारा जा कर
गिर रहा है शीत
दरिद्रों के ऊपर

२२२. शीतकालसमुद्भिन्नपुलकाङ्कुरशालिनी।
ममाम्बरविहीनस्य त्वगेव पटिकायते।।
सुरको. १३१८

शीत में
भर गया है देह
अँकुराते रोओं से
कपड़े तो नहीं मै मेरे पास
चमड़ी ही रच रही हैं
कपड़ा अपने ऊपर

२२३. बारं बारं तुषारानिलतुलितपलालोष्मणां पामराणां
दण्डव्याघट्टनाभिः क्रमपिहितरुचौ बोध्यमाने कृशानौ।
उद्धूमैर्बीजकोषोच्चटनपटुरवैः सर्षपक्षोदकूटैः
कोणे कोणे खलानां परिसरकटुः कीर्यते कोऽपि गन्धः।।

योगेश्वर, सुरको, ३१८

खेत के मजदूर
बर्फीली हवाओं को तौलते हैं जलते पुआल की गर्मी से
राख में मुंदी
मंदी पड़ती आँच को चेताते है
लकड़ियो से कुरेद कर
चटक कर जलती है अलाव में फलियाँ
फैलता है धुआँ
सरसों के दाने फूट कर बिखरते हैं
खेत में चारों ओर कोने कोने तक
फैल रही है कड़वी कसैली गंध।

२२४. कम्पन्ते कपयो भृशं जडकृशं गोजाविकं ग्लायति
श्वा चुल्लीकुहरोदरं क्षणमपि क्षिप्तोऽपि नैवोज्झति।
शीतार्तिव्यसनातुरः पुनरयं दीनो जनः कूर्मवत्
स्वान्यङ्गानि शरीर एव हि निजे निह्नोतुमाकाङ्क्षति।।

लक्ष्मीधर, सुरको० ३१३ शृं० प्र०, सरस्वतीकण्ठाभरण ३।१०
सूमु. ६३।१७ तथा
सकमृ० ३४९ में भी उद्धृत

कटकटा कर काँप रहे हैं बंदर
ठिठुरती गाय-बकरियाँ रह गई हैं अकड़ कर
भट्टी की गरम भंभूदल में धँस कर सोया रहा रात भर
कुत्ता, निकलता नहीं अब दुतकारा जाने पर भी बाहर
शीत की विपत् से आतुर हुआ
गरीब आदमी बन गया है कछुवा
बदन का हर रंग सिकोड़ सिकोड़ कर
अपने ही बदन में घुसा लेने को वह विवश हुआ।

२२५. कृत्वा पृष्ठतटे पटच्चरमथ ज्योति प्रतङ्काङ्कयो-
रूर्वोरन्तरयोर्निषेदुषि करौ कृत्वा कुकूलानले।
पार्श्वौ कम्पजडौ पिधाय कफणिद्वन्द्वेन रोमाञ्चिता
प्रातर्नो न च सायमद्य जरती गेहोदरं मुञ्चति ।।

वैश्य, सुरको. ३०१

पीठ के पीछे कसती है चिथड़ा
गोदी के निकट सरका कर बैठी रहती है
फूस की आग
हाथ हटाती नहीं है उसके पास सें
काँपती दोनो बगलों को
कोहनियो से दबाये हुए
रोमांचित
बुढिया घर के बाहर निकलती ही नहीं है आजकल
न सबेरे, न संझा की वेला।

२२६. धूमप्रायः प्रतिमुहुरतिक्षोभनोद्वान्ततेजाः
कारीषाग्निः सततमृतुना सेव्यतां नीयमानः
बाहूत्क्षेपात् स्तनपरिसरादस्तलीलांशुकाभि-
र्घोषस्त्रीभिर्दिवसविरतौ भाति निर्विश्यमानः ।।

अभिनन्द, वही, ३०२

ग्वालो की बस्ती में दिन ढलने पर
औरतें सुलगा रही हैं
कंडो की आग
हाथ ऊपर उठाने से
खेल खेल में ढुलक गये हें उनके आँचल
पहले धुँआ छोड़ती है
फिर छेड़ने पर
भकभका कर उगल देती हैं
अपना तेज
कंडो की आग
झुकी पड़ती उस पर
तापती हैं ग्वालिनें।

२२७. मूले हरिन्ति किञ्चित् पार्श्वे पीतानि लोहितान्यग्रे।
मधुरसुरभीणि सम्प्रत्यगाढपाकानि बदराणि।।

वही, वही, ३०४

गदरा उठे हैं बेर अब
नीचे नीचे हरे हरे
आजू बाजू में पीले पीले
ऊपर ललछौंहे
मीठे, और बिखेरते हुए सुगन्ध।

◆◆◆

(३३) शिशिर

२२८. शीतेनोद्धृषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जत:
शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमत: क्षुत्क्षमकठस्य मे।
निद्रा क्वाप्यपमानितेव वनिता सन्त्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा नो क्षीयते शर्बरी।।

कल्हण, राजतरङ्. गिणी, ३।१८१

शीत से काँप काँप जाता हूं उड़द की फली की तरह
डूबा हूँ चिन्ता के सागर में
बुझ गई है आग, उसको
ओठो की फूँकनी से फूँक रहा हूं
चटक रहा है कंठ भूख से
नींद
ठुकराई स्त्री सी
छोड़ कर मुझे दूर कहीं पर चली गई है
सज्जन को सौंपी धरती सी
चुकती नहीं है
यह रात लम्बी।

२२९. पाकक्षामतिला: समुत्सुकयिंतु शक्ता: कपोतान् भुव:
श्यामत्वं फलपीड्यमानकुसुमानापद्यते सर्षपान्।
वायुर्व्यस्तशणस्तुषारकणवानभ्येतिकम्पप्रद:
पान्थै: शुष्कविवादबद्धकलहै: पुण्याग्निरासेव्यते।।

योगेश्वर, सुरको. ३१५, सकमृ० १३५०

पक कर सूख गये तिल
बना सकते हैं बैचेन
धरती पर डोलते कबूतरों को।
सरसों के पोधों पर
फलियाँ भारी हैं फूलों के ऊपर
सँवला रहे हैं पौधे
सरकंडो को तितर बितर करती
तुषार से भरी हवा
दे जाती है कँपकँपी
सूखा बकताव करते हुए
बटोही ताप रहे हैं
आग पावन।

(३४) सेवक

२३०. सेवाव्रते प्राय इवोपविष्टः
सर्वात्मना निश्चित जीवनाशः
द्वास्थैः प्रयत्नेन निवारितोऽपि
न दुर्ग्रहं मुञ्चति नष्टसंज्ञः ।।

जो बैठ गया गुलामी का व्रत ले कर
वह बैठ गया जीवन भर के अनशन पर
जीवन में उसके आस नहीं फिर किसी तरह की
जीवन उसका नहीं बचेगा किसी तरह भी।
वह रोका जाता है झिड़की दे दे कर
अधिकारी के द्वारा हर एक दरवाजे पर
नहीं छोड़ता है लेकिन वह
भीतर घुसने का अपना आग्रह ।

२३१. तमो ऽध्वतापेन च चिन्तया च
शीतेन दैन्येन च पिण्डिताङ्गः।
सुखाशया दुःखसहस्रभागी
सेवाव्रतं मुग्धमतिर्बिभर्ति ।।

जो बैठ गया गुलामी का व्रत ले कर
वह रह गया है बस बुद्धू बन कर
वह अँधियारे में रहता है
वह रास्ते की थकन बराकर सहता है

वह देह सिकोड़े ही रहता है
चिन्ता और दीनता के कारण
सर्दी और हीनता के कारण
सुख की बस आस लगाये
वह दुःख हजारों झेला करता है।

२३२. गच्छामि गच्छामि दिनं गतं में
दिने गतो ऽहं न नृपो ऽद्य दृष्टः।
इति ब्रुवाणस्य सदा जनस्य
जीर्णातरां तस्य तनुर्नतृष्णा।।

तब फिर चलता हूँ, चलता हूँ,
आज तो बीत गया यूँ ही दिन
यहाँ सुबह से खड़ा हुआ हूँ
पा न सका पर राजा के दर्शन।
वह रोज रोज यह कहता है बस
कहते कहते देह हो गई है जर्जर
तृष्णा तो है किन्तु अजर
बनी हुई है जस की तस

२३३. एकः खमेव क्षितिमीक्षतेऽन्यः
स निर्जनार्थी स च गाढलग्नः
स्वस्थार्थिता तस्य भृशं स चार्थी
कथं स सेव्यः स च सेवकोस्तु ।।

क्षेमेन्द्रः सेव्यसेवकोपदेश, ३८-४०,४३

इसकी आँखे टँगी हुई है ऊपर नभ पर
उसकी आँखें लगी हुई हैं नीचे धरती पर
यह मिलना उससे चाह रहा है एकाकी
वह लोगों से घिरा हुआ है
इसकी इच्छा दो कौड़ी के लिये अड़ी है
उसकी इच्छा तो बहुत कड़ी है
तब फिर हो पायेगा कैसे आखिर
मालिक वह और बिचारा यह चाकर ?

२३४. प्रम्लाना सरसत्वमेति न पुनर्मालेव लग्नातपा
भग्ना काचमयीव सन्धिघटना योगेन नो शिलष्यति।
सेवा दीपशिखेव दुर्गतगृहे सन्धार्यमाणा परं
निःस्नेहा क्षयमेति खेदजनितैरुच्छ्वासमालानिलैः ।।

चाकरी गरीब के घर की
जैसे एक दिये की बाती है
धारे रहो जितनी देर धार सको
उसके भीतर की चिकनाई
आखिर चुक ही जाती है
दुःख में छूटी हुई साँस से
भभक कर फिर वह बुझ जाती है
गरीब के घर की चाकरी
जैसे बेहद कुम्हलाई माला है
धूप की मार खाती हुई
उसको फिर कौन खिलाने वाला है?
गरीब के घर की चाकरी
जैसे फूटी शीशी है काँच की
कितना ही जोड़ो
वह जुड़ नहीं सकती।

२३५. कस्त्वं गत्वर, सेवकस्त्वरितता कस्मात् प्रभुर्दृश्यते
लाभः कस्तव वेत्रिविपुलाघातैः शिरस्ताडनम् ।
किं मृद्नासि मुदा विशालचरणैर्मिथ्यैव रथ्यामिमां
बन्धो वन्ध्यनरेन्द्रभव्यभवनभान्त्या विडम्ब्यामहे ।।

कौन हो भैया राही ?
"मैं एक चाकर हूँ भाई।"
"ऐसी जल्दी में कहां जा रहे भागे भागे ?"
"लो, वे मालिक जो दीख रहे हैं आगे।"
"मालिक से कया तुम को मिल जायेगा।"
"बस पहरेदारों की मार यह माथा खायेगा।"
"तो फिर यों खुश हो हो कर

"क्यो व्यर्थ रोदते हो धरती को रह रह कर ?"
"बन्धु, पाल लिया है हमने यह जीवन भर का चक्कर
राजा के भव्य भवन में चक्कर लगा लगा कर ।"

२३६. सुप्ताकर्षणदाम धाम महतो मोहस्य दैन्यस्य वा
सेवाक्लेशमहर्निशं विषहते यो वित्तलेशाशया
प्रस्फूर्जद्वडवाग्निगर्भगहनोद्भूतोर्मिमालाकुलं
सङ्क्षुब्धं मकरालयं प्रविशति श्रीरत्नलब्ध्यै न किम् ।।

चाकरी होती है ऐसी रस्सी
सोते गुलाम को भी जो घिसटा लेती है
चाकरी होती है ऐसी गठरी
जो महामोह से भरी सदा रहती है
या कि दीनता से अटी हुआ करती है
जो क्लेश चाकरी का सहता है
पैसे के लालच में
वह बड़वानल से धधक रहे और धाड़ मारते
ऐसे सागर में धँसता है मोती पाने को
जो बड़े मगरमच्छों से भरा हुआ है

२३७. व्यर्थात्यर्थगतागतव्यतिकरैरश्रान्ततीव्रत्वरो
द्वारालोकनतत्परः परिजनैरुत्सार्यमाणः परम् ।
यत्नेनैव पुरःप्रवेशशकलनैः क्लेशावमानाश्रयः
सर्वापत्पिशुनः शुनः सदृशतामालप्स्यते सेवकः ।।

वही, वही, ४९-५२

वह लगातार आता है, जाता है,
वह व्यर्थ लगाता है चक्कर
वह भगता है, हड़बड़ाता है
नहीं बैठता पर थक कर।
वह दरवाजे पर आँख टिकाता है।
वह घर के लोगों से धकियाया जाता है
वह बन जाता है दुःख और तिरस्कार का घर

वह बन जाता है सारी विपदाओं का एक घर
एक कुत्ता बन कर रह जाता है चाकर।

२३८. कूजत्क्रूरकपाटपीडनरुषादत्तप्रहारैः परं
द्वारावस्थगनाय सुस्थिरभुजैर्द्वाःस्थैर्भृशं भर्त्सितः
कुब्जीभूय जनस्य जानुविवरैः क्षिप्रप्रवेशोत्सुकः
पृच्छत्यन्तरनिर्गतानवसरं मौनव्रतान् सेवकः।।

क्रूरता के साथ चीख चीख उठते हैं किवाड़
ठोकर मारते हैं रिसाते हुए पहरेदार
गालियाँ बकते हुए वे
छेंकते हैं द्वार – स्थिर भुजाओं से
वह कुबड़ा बन कर कर ललक रहा है
लोगों के घुटनों के बीच से भीतर घुसने को।
वह जो बन गया है चाकर
वह भीतर से बाहर जाते लोगों से
पूछ रहा है–क्या है अब अवसर ?
निकल रहे हैं लोग मगर
मौन का जैसे व्रत ले ले कर।

२३९. द्वारे रुद्धमुपेक्षते कथमपि प्राप्तं पुरो नेक्षते
विज्ञप्तौ गजमीलनानि कुरुते गृह्णाति वाक्यच्छलम्।
निर्यातस्य करोति दोषगणनां स्वल्पापराधे यमः
स स्वामी यदि सेव्यते मरुतटे किं नः पिशाचैः कृतम् ?
वही, वही, ५३-५४

जो अटक गया है दरवाजे पर
उसकी ओर ध्यान नहीं यह देता
जो खड़ा हो गया आगे आ कर
उसकी ओर नहीं यह देखा करता,
कहा सुनी करने पर
वह आँखें मूँद लिया करता है या
करता है टालमटूल

मीनमेल निकाला ही करता है
काम खतम होने पर
थोड़ी भी चूक हुई तो
वह बन जाता है यम
ऐसे स्वामी की यदि सेवा की
तो बिगाड़ा ही क्या है
मरुस्थल के पिशाचों ने ?

२४०. क्व भ्रातश्चलितो ऽसि यामि कटकं किं तत्र सेवाशया
क: सेव्यो नृपति:, कथं निजगुणै:, के ते गुणा: , ये सताम्।
किं तैरद्य , कुत: परे व्रज वनं किंवात्वया न श्रुतं
पूज्यन्ते शठमत्सरिप्रभृतय: कर्णेजपा: सेवका: ।।

अज्ञात, सुभा. ३०७२

–कहाँ चल दिये भाई ?
–राजसभा में जाऊँगा भाई ।
–क्या है वहाँ ?
–सेवा मिलने की आशा है वहाँ।
–किसकी करना है सेवा?
–राजा की ही तो
–कैसे करोगे सेवा ?
–करेगें अपने गुणो से सेवा।
–और गुण कौन से हैं वे तुम्हारे ?
–वे ही, जो सज्जनो के हुआ करते हैं।
–अरे, अब उन गुणो का काम क्या ?
–क्यों भला ?
–जाओ, और कहीं चले जाओ, क्या तुमने नहीं सुना —
अब यह धूर्त, जलकुकड़े और चुगलखोर सेवक की ही बस
पूछ हुआ करती है।

२४१. हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति
कृतपरिकर: स्वेदोद्गारं प्रधावति धावति।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रनिन्दति निन्दति

धनलवपरिक्रीतो भृत्यः प्रनृत्यति नृत्यति।।

धर्मकीर्ति, सुभा. ३२३२

हँसता है स्वामी के हँसने पर
रोता है चीख चीख कर स्वामी के रोने पर
बाँध कर कमर बहाता हुआ पसीना
वह भगता है स्वामी के भगने पर
गुणो से भरे दोषों से रहित व्यक्ति की
निन्दा करता है स्वामी के निन्दा करने पर
रुपये के टुकडे से खरीदा गया सेवक
नाचता है स्वामी के नाचने पर।

२४२. सप्रस्वेदः पुलकपरुषः सम्भ्रमात् सप्रकम्पः
सान्तर्दाहः प्रशिथिलधृतिः सास्यशोषः सतर्षः।
सवृत्तो यो गुरुरपि लघुर्हन्त तैस्तैः प्रकारै-
याञ्चाशब्दः स्पृशति पदवीं सन्निपातज्वरस्य ।।

अज्ञात, वही ३२३३

याचना के शब्द और ज्वर सन्निपात का
ये दोनों एक बराबर है
दोनों में खूब पसीना आता है,
दोनों में रोंए खड़े हुआ करते हैं
दोनों में आता है चक्कर और कँपकँपी
दोनों में मन में होता है दाह, छूट जाता है धीरज
मुँह सूखता है दोनों में, बढ़ती है तृषा
दोनों में बड़ा भी बन जाया करता है छोटा।

२४३. शून्यार्थैर्वचनैर्मया नरपते कर्णौ तवापूरितौ
तेभ्यः शून्यतमस्त्वयापि बहुशो मत्कर्णपूरः कृतः।
इत्थं वञ्चयतोः परस्परमयं कालो व्रजत्यावयोः
क्षीणा शक्तिरहं जितस्त्वमजितो जेता नृपः शस्यते ।।

किशोरक, वही, ३२३४

खोखले वचनों से हे राजा,
मैने भी तेरे कान भरे
उससे भी खोखला तूने रच दिया
मेरे लिये कर्णपूर।
इस तरह हम दोनो
ठगते रहे एक दूसरे को
और बीतता गया काल
अब छीज गई है शक्ति मेरी
मै हारा, तुम जीते
जो जीत गया, वह है राजा।

२४४. उन्नत्यै नमति, प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधी रागामिवित्ताशया
प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद् विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः ।।

अज्ञात, वही, ३२३५

ऊँचा उठने को
वह झुकता है नीचे, प्रभु के आगे
प्रभु के घर के भीतर जाने को
वह खड़ा रहा करता है बाहर
अपने पास से रुपया खर्च कर देता है मूर्ख
आगे रुपया मिलने की आशा में,
जिन्दा रहने के लिये
युद्ध में दे देता है प्राण
सुख भोगने के लिये
उठाता रहा है दुःख
सब कुछ उल्टा ही करता है सेवक
तृष्णा से आँखें जिसकी अन्धी होती हैं।

२४५. हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति।
द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ।।

रुय्यक द्वारा व्यक्ति विवेक की टीक में उद्धृत, पृ. ३३४

वह हंसता है मालिक के हंसने पर
वह चीख चीख कर रोता है
मालिक के रोने पर
वह नाच नाच उठता है
मालिक के नचने पर
कुछ सिक्को से खरीदी हुई मशीन होता है—
गुलाम ।

२४६. अमीषां प्राणानां तुलितबिसीनपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनि: संज्ञमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ।।

भल्लटशतक, १६८ महासुभाषितसंग्रह भाग-२, २४८३

तिरछे कमल के पत्ते पर गिरी
पानी की बूँद जैसी है जिंदगी
इसके लिये विवेक बिसरा कर
क्या क्या नहीं कर बैठे हम।
हम जो कि
धन के मद में बेहोश मन वाले
अमीरो के आये
लाज को धकिया कर
अपने गुण बखान करने का
पाप भी कर गये।

२४७. अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम् ।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजाप: कृत:
कृतान्धमुखमण्डना यदबुधजनो सेवित: ।।

महासुभाषितसंग्रह, भाग-२,२८३२

यह जंगल में रोना हुआ
यह मुर्दे के तन पर लगाना हुआ उबटन
यह रोपना हुआ सूखी धरती पर कमल

यह बड़ी देर बरसना हुआ ऊसर में
यह कुत्ते की पूँछ सीधी करना हुआ
यह बहरे के कान में फुसफुसाना हुआ
और हुआ अन्धे के चेहरे को सजाना
यह जो नासमझ की सेवा करना था।

२४८. भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राज्ञस्ततो वल्लभा-
दन्येभ्यश्च भवन्ति ये च भुवने लब्धप्रतिष्ठाः विटाः।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थमायास्यतः
सेवां लाघवकारिणीं धृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः।।

विशाखदत्त, मुद्राराक्षस, सूमु० १२३।८

डरना होता है. राजा से
फिर डरना होता है मंत्री से
फिर डरना होता है राजा के प्रेमपात्र से
और उन सभी दलालो से जो
हो चुके प्रतिष्ठित उस दुनिया में।
बात करना होता है दीनता के साथ ऊँचा मुँह कर के
रोटी के टुकड़े के लिये क्या क्या नहीं करना होता है
गुलामी छोटा बना देती है आदमी को
ठीक ही कहते हैं लोग
गुलाम होना कुत्ते का जीवन जीना है।

२४९. सेवा श्ववृत्तिरुक्ता यैस्तैर्न सम्यगुदाहृतम्।
स्वच्छन्दं चरति क्व श्वा विक्रीतासुः क्व सेवकः ?।

अज्ञात, समु०. १२३।२

गुलामी कुत्ते का जीवन है–
यह जिन्होंने कहा ठीक नहीं कहा।
खुले आम घूमता है कुत्ता
जो बेच चुका है अपने प्राण
वह गुलाम
कैसे घूम सकता है खुले आम ?

२५०. चलेषु स्वामिचित्तेषु सुलभे पिशुने जने।
यदि जीवत्यहो चित्रं क्षणमात्रानुजीविनः।।
व्यास, वही, १२३।४

चंचल होता है जी मालिक का
पग पग पर मिलते ही हैं चुगलखोर
अचरज है देखो कितना बड़ा
फिर भी जी ही लेते हैं कुछ तो
गुलामी करने वाले लोग ।

२५१. अनिद्रो दुःस्वप्नः प्रपतनमनद्रिद्रुमतटं
जराहीनः कम्पस्तिमिररहितस्त्राससमयः।
अनाघ्रातं दुःखं विगतनिगडो बन्धनविधिः
सजीवं जन्तूनां मरणमवनीशाश्रयरसः।।
अज्ञात, वही, १२३।१६

यह बिना नींद का एक बुरा सपना है
बिना पहाड़ के, बिना झाड़ के और बिना तट के
यह नीचे और बहुत नीचे गिर जाना है।
यह बिना बुढापे के कँपना है।
यह है समय त्रास का बिना अँधियारे के।
यह बिना चोट का दुःख है, यह बंधन की विधि है।
जंजीरो के बिना, और मरण है
जीवन के रहते ही
यह जो राजा के आश्रय का रस है।

२५२. तोयं निर्मथितं घृताय मधुने निष्पीडितः प्रस्तरः
पानार्थं मृगतृष्णिकोर्मितरला भूमिः समालोकिता ।
दुग्धा सेयमचेतनेन जरती दुग्धाशया शूकरी
कष्टं यत् खलु दीर्घया धनतृषा नीचो जनः सेवितः।।
अमरसिंह, सकमृ० २२१९

घी के लिये पानी मथ डाला
मधु के लिये निचोड़ डाला पत्थर

जल पीने के लिये टटोली
मृगतृष्णा की लहरों में तरल धरा
नासमझ थे हम
दूध की आस से बूढी बकरी दुही हमने
कष्ट ही था वह सब जो
धन की दीर्घ तृष्णा से
नीच की सेवा करते रहे हम।

२५३. धावित्वा सुसमाहितेन मनसा दूरे शिरो नामितं
भूपानां, प्रतिशब्दकैरिव चिरं प्रोद्घुष्टमिष्टं वचः।
द्वाराध्यक्षनियन्त्रणापरिभवैः प्रम्लानवक्त्रैः स्थितं
भ्रातः किं करवाम मुञ्चति मनो नाद्याप्यविद्याग्रहम्।।

देवगणदेव, शाप. ४१५९

जान लगा कर दौड़ पड़े हम
शीश झुकाया बहुत नीचे तक
राजाओ की गूँज बन गये हम
और चीख कर दोहराते रहे उनके इष्ट वचन
द्वारपाल से रोके जाने के
अपमानो के म्लान थोबड़े
लिये हुए हम खड़े रहे और
करे क्या बन्धु अभी भी
मन छोड़ नहीं पाता है यह
दुनिया के खिंचाव को।

◆◆◆

(३५) निर्वेद

२५४. गेहं दुर्गतबन्धुभिर्गुरुगृहं छात्रैरहङ्कारिभि-
ईट्टं पत्तनवञ्चकैर्मुनिजनैः शापोन्मुखैराश्रमान्।
सिंहाद्यैश्च वनं खलैर्नृपसभां चौरैर्दिगन्तानपि
सङ्कीर्णान्यवलोक्य सत्यसरलः साधुः क्व विश्राम्यति।।

सुभाषितावलि, ३०९

घर में जाओ, तो दुष्ट बान्धव मिलेंगे
गुरुकुल में जाओ तो छात्र मिलेगें महाघंमडी
जाओ जो बाजार तो ठग होंगें जो नगर लूट लें
आश्रम में भी चले जाओ जो
तो मुनिजन शाप वहाँ देने को तत्पर बैठे हैं
वन में जाने पर
सिंह मिलेंगे और राजसभा में होगे दुष्ट बहुत
दिग् दिगन्त तक भी निकल गये तो
वे चोरो से भरे पड़े है।
सत्य से सरल सज्जन को मिले जहाँ विश्राम
ऐसा कोई ठाँव नहीं है।

२५५. उन्नतोऽपि विशदोऽपि कोमलोऽ-
प्यद्य जाड्यहरणक्षमोऽपि च।
अन्तरुज्ज्वलगुणोऽपि निर्धन-
स्तूलराशिमिव याति लाघवम्।।

विद्याकरसहस्रकम्, २९८

वह ऊँचा भी होता है, होता है निर्मल, कोमल
वह ठंडक को दूर हटा कर देता है ऊष्मा
भीतर से वह होता है उज्जवल गुण वाला
रूई के ढेर सा
छोटा ही समझा जाता है।
निर्धन।

•••

(३६) अन्योक्ति

२५६. देवे कुर्वति दुर्दिनव्यतिकरं नास्त्येव तन्मन्दिरं
यत्राहारगवेषणाय बहुशो नासीद् गता वायसी।
किन्तु प्राप न किञ्चन क्वचिदपि प्रस्वापहेतोस्तथा
प्युद्भिन्नार्भकचञ्चुषु भ्रमयति स्वं रिक्त-चञ्चुपुटम्।।

अज्ञात, सुभु. ६१।२१

कैसा दुर्दिन दिखाया देव ने
पानी बरसता ही रहा लगातार
कोई घर नहीं था जहाँ न गई हो कौवी
दाना खोजने के लिये।
पर कहीं से कुछ पा न सकी।
चौचें खोले हुए चूजों को सुलाने के लिये अब वह
घुमा रही है अपनी खाली चोंच
उनकी चोंचों में।

२५७. त्यक्तो विन्ध्यगिरिः पिता, भगवतीमातेव रेवा नदी
ते ते स्नेहनिबन्धबन्धुरधियस्तुल्योदया दन्तिनः।
त्वल्लोभान्ननु हस्तिनि स्वयमिदं बन्धाय दत्तं वपु-
स्त्वं दूरे ध्रियसे लुठति च शिरःपीठे कठोराङ्. कुशाः।।

छोड दिया विन्ध्याचल पिता हमारा जो था
त्याग दिया नर्मदा नदी को माता जो थी
देवी

छोड़ दिये सह संगी साथी
जो नेह के बन्धन में मेरे साथ बँधे थे
हथिनी, बस तुझ को पाने को
अपना यह देह स्वयं बन्धन में दे डाला
और तुम ले जाई जा रही हो दूर
बरस रहे हैं और कठोर
हथौड़े मेरे माथे पर।

२५८. घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ प्रेमबन्धं करिण्यां
पाशग्रन्थिव्रणानामविरतमधुना देहि पङ्कानुलेपम्।
दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तदृष्टा
रेवातीरोपकण्ठच्युतकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः।।

भर्तृमेण्ठ, सकमृ. १८५२, १८५३

रे हाथी के छौने अब खा भी घास के कवल
हथिनी के लिये प्रेम का बन्धन भूल भाल जा
लगा ले पाश की गाँठों से हुए घावों में लेप गीली मिट्टी का
वे विन्ध्य की तलहटियाँ अब कहाँ ?
जो धूसर रहती थी
नर्मदा के किनारे झरते फूलों के परागों से
और निहारते थे जिनको
अपने हावभाव में भरमाये
भील भीलनियों के जोड़े

२५९. अयि क्षुद्रो मा भून्मतिमहिमगर्वो मनसि वः
करी यातो बन्धं यदिह विनयस्तत्र विजयी।
अयं क्रोधाध्मातस्त्यजति विनयं चेन्मदवशात्
ततःस्कन्धावरं न किमखिलमेवाकुलयति।।

त्रिपुरारिपाल, वही, १८५५

लोगो, यह थोथा घमंड मत आने दो मन में
यह जो बाँध लिया है हाथी तुमने
यह तो इसके विनय की जीत है बस।

कभी, क्रोध में फनफना कर यह छोड़ देगा विनय
मद में भर कर
तो सारे शिविर को
तहस नहस क्या नहीं कर डालेगा ?

२६०. आः कष्टं वनवाससाम्यकृतया सिद्धाश्रमश्रद्धया
पल्लीं बालकुरङ्ग सम्प्रति कुतः प्राप्तोऽसिऽ मृत्योर्मुखम्।
यत्रानेककुरङ्गकोटिकदनक्रीडोलसल्लोहित
स्रोतोभिः परिपूरयन्ति परिखामुड्डामराः पामराः।।
बिल्हण, शाप, ९४६

सिद्धाश्रम में रहने जैसा
होगा वन में रहना
ओ हरिण के छौने, यही सोच कर
जंगली इस बस्ती में जो तुम चले आये
तो आ गये हो मृत्युमुख में
जहाँ करोड़ हरिणों को कटने के खेल में
फूटती लहू की धाराओं से
खाई को भर रहे हैं ये पामर लोग।

२६१. स्वच्छन्दं हरिणेन या विरहिता दैवात् समासादिता
भङ्गप्रस्नुतदुग्धबिन्दुमधुरा शालेर्नवा मञ्जरी।
निःश्वासानलदग्धकोमलतृणप्रख्यापितान्तर्व्यथ-
स्तामेव प्रतिवासरं मुनिरिव ध्यायन् वने शुष्यति ।।
धर्मकीर्ति, शाप. ९४७

एक बिछड़ी हुई कोई
धान की नई मंजरी
स्वच्छंद घूमते
हिरण को मिल गई थीं।
टूटने से
दूध की बूदें मधुर
निथर रही थी उससे।

गर्म साँसों की आग से कोमल कवल घास के जलाता है अब वह
भीतर की व्यथा बताता हुआ
मुनि की तरह
उसी धान की मंजरी का
करता हुआ ध्यान
वन में सूख रहा है।
वही हिरण अब।

२६२. चिन्तां मुञ्च गृहाण पल्लवमिदं प्लक्षस्य शालस्य वा
गाङ्गस्यास्य जलस्य चन्द्रवपुषो गण्डूषमेकं पिब।
जीवन् द्रक्ष्यसि ताः पुनः करभ हे दासेरकीया भुवो
रम्याः पीलुशमीकरीरबदरीकूजत्कपोताकुलाः।।

अज्ञात,वही, ९५४

छोड़ दे चिन्ता और खा ले
ये कोंपले पाकर की या शाल की
चाँद जैसे उजले
इस गंगा जल का
पी ले एक कुल्ला
जीवित रहेगा जो तो हे ऊँट
तो फिर देखेगा ही
वही अपनी
पीलु, छेंकुर, करीर और बेर से भरी
मालवे की धरती।

२६३. यो नीवारतृणाग्रमुष्टिकवलैः संवर्धितः शैशवे
पीतं येन सरोजवारिपुटके होमावशेषं पयः।
तद्दानासवपानमत्तमधुपव्यालोलगण्डं गजं
सोत्कण्ठं सभयं च पश्यति शनैर्दूरे स्थितस्तापसः।।

सुरको. १६८९

शैशव से जिसको मुट्ठी भर दे दे कर तिन्नी धान
कभी पाला था

और पिलाया था
हवन से बचा हुआ जल
कमलपत्र के दोने से
आज वही मतवाला हाथी है
मँडराते हैं उसके ऊपर
मदजल का आसव पी पी कर मस्त हुए भौरे
अब दूर अड़ा उसको ताक रहा है बरबस
उत्कंठा और भय से भरा हुआ तापस।

◆◆◆

(३७) जुआरी

२६४. यः स्तब्धं दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो
यस्योद्घर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः।
यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तरं चर्व्यते
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ? ।।

मृच्छकटिक, २।१२

जो बैठ नहीं सकता हैं सारे दिन
शीश झुकाये मुँह लटकाये
जो घसीटा न गया रास्ते में
और ढेलो के घट्टे पड़े न पीठ पर जिसके
पीछा करते कुत्तो ने पिंडलियो का
मांस नहीं हो जिसका नोंचा
बहुत सुकोमल वह होगा
उसे जुए के प्रपंच से क्या लेना–देना ?

२६५. कौपीनं वसनं कदन्नमशनं शय्या धरा पांसुला
जल्पो ऽश्लीलगिरः कुटुम्बकजनः वेश्या सहाया विटाः।
व्यापाराः परवञ्चनानि सुहृदश्चौरा महान्तो द्विषः
प्रायः सैष दुरोदरव्यसनिनां संसारवासक्रमः।
तथापि द्यूतकारस्य पापध्वातान्धचेतसः।
शक्रेऽपि रङ्क कल्पो धूतकर्मपराङ्. मुखे।।

मल्लिकामकरन्द, १।१०-११

कपड़े के नाम पर केवल लँगोटी
भोजन रूखा सूखा केवल
शैया मात्र धूल सनी धरती की
बातचीत भी केवल गन्दी
कुटुम्बी होती हैं केवल वेश्याएँ
और सहायक बनते केवल दलाल
काम केवल एक होता —दूसरो को ठगना
मित्र होते केवल चोर, और बड़े लोग हो जाते वैरी
जुए का चस्का जिस को पड़ गया
जीवन उसका इस जग में केवल ऐसा ही होता है।

पाप की काली अँधेरी दुनिया में डूबता रहता है जुआरी का मन
और इन्द्र भी यदि उसके सामने आ जाए
पर जुआ साथ में उसके खेलना न चाहे
तो इन्द्र की ओर भी वह न ताके।

◆◆◆

(३८) भिखारी

२६६. रथ्याकार्पटिकैः पटच्चरशतस्यूतोरुकन्थाबल-
प्रत्यादिष्टहिमागमार्तिविशदप्रस्निग्धकण्ठोदरैः ।
गीयन्ते नगरेषु नागरजनप्रत्यूषनिद्रानुदो
राधामाधवयोः परस्पररहःप्रस्तावनागीतयः ।।

डिम्बोक, सुरको. ९६०

मुँह अँधेरे
निकल पड़े हैं गली में काँवड़ वाले
सिले गये कथरी के सौ सौ टुकड़ो के दम पर
ले रहे शीत से टक्कर
फूट रहे हैं उनके कंठो से उजले मीठे स्वर
गीत उनके
नागर जनो की
नींद भोर की
तोड़ रहे हैं
राधा–माधव के आपस में एकान्त मिलन की
बतकही के गीत।

२६७. भद्रे वाणि ममानने कुरु दयां वर्णानुपूर्व्या चिरं
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि याहि करुणे प्रज्ञे स्थिरत्वं व्रज।
लज्जे तिष्ठ पराङ्मुखीक्षणमहो तृष्णे पुरः स्थीयतां
पापो यावदहं ब्रवीमि धनिनां देहीति दीनं वचः ।।

सुरत्ना. पृ. ६८

देवी वाणी दया करो मेरे मुख पर
अक्षर उसके भीतर से क्रम से ही निकलें
थोड़ा कड़ा कर ले अपने को रे मन
हे करुणा, हे प्रज्ञा, कुछ ठहरी रह जा।
लज्जा, मुँह मोड़ कर रुकी रह एक क्षण
और तृष्णा तू बनी रह मेरे आगे।
जितनी देर कहू मैं पापी
धनियो के आगे – दे दीजिये — यह दीन वचन।

२६८. या पाणिग्रहलालिता सुसरला तन्वी सुवंशोद्भवा
गौरीस्पर्शसुखावहातिसुभगा नित्यं मनोहारिणी।
सा केनापि हृता तया विरहितो गन्तुं न शक्नोम्यहं
भिक्षो, किं तव कामिनी, नहि नहि प्राणप्रिया यष्टिका।।

सुभाषितहारावली, १४०२

जब से पाणिग्रहण किया
तब से बहुत लाड़ से उसको रखा
वह बड़ी ही सीधी थी और पतली
अच्छे वंश से वह निकली थी।
गौरी थी, छूने में सुख देने वाली थी सुन्दर
नित्य ही वह मन हरती थी
कोई उसको ले गया उठा कर
विरह में उसके मैं चल नहीं सकता डग भर
भिक्षुक, क्या वह प्रेयसी थी तुम्हारी
नहीं, नहीं, लाठी थी मेरी, प्राणों से भी प्यारी।

२६९. उच्चैरध्ययनं पुरातनकथाः स्त्रीभिः सहालापनं
तासामर्भकलालनानि पतिनुतिस्तत्पाकमिथ्यास्तुतिः।
आदेशस्य करावलम्बनविधिः पाण्डित्यलेखक्रिया
होरा गारुडमन्त्रतन्त्रकविधिर्भिक्षोर्गुणा द्वादश।।

पद्यरचना, १२४

बारह गुण होते हैं भिखारी के
पहला – ऊँचे सुर में करना पाठ,

दूसरा – गड़े मुर्दे उखाड़ना
तीसरा – स्त्रियों के बीच बतकही
चौथा – उनके बच्चों को दुलारना
पाँचवाँ – उनके पतियों की विरूदावलि गाना
छठा – उनकी पकाई रसोई की मिथ्या स्तुति करना,
सातवाँ – उनके आदेश करना शिरोधार्य
आठवाँ – पंडिताई झाड़ना
नवाँ – मूहूर्त निकालना
दसवाँ – ज्योतिष
ग्यारहवां – मंत्र
बारहवां – तंत्र।

२७०. प्रातः क्षालितलोचना करतले चञ्चत्पवित्राङ्. कुरा
स्तत्तत्स्थाननिवेशितोर्ध्वतिलकाश्चैलान्तबद्धाक्षताः।
को जातश्च मृतोऽथवा मृततिथिः कस्यालये वर्तते
चेत्थं हर्ष शतैर्युताः प्रतिदिनं धावनयहो भिक्षुकाः।।

वही, १२९

बड़े सबेरे मुँह धोया
दूब उठाई, और देह पर
जहाँ तहाँ तिलक छापे माँडे
कपड़े में कुछ अक्षत बाँधे
निकल पड़े हैं भिखारी
किसके घर बेटा हुआ, कौन जन्मा
कौन मरा
किसके घर में है पुण्यतिथि
इस प्रकार
हर्षित हो हो कर सौ बार
वे भागते हैं यहाँ से वहाँ।

•••

(३९) पाखंडी लोग

२७१. पितृभिः कलहायन्ते पुत्रानध्यापयन्ति पितृभक्तिम्।
परदारानुपयन्तः पठन्ति शास्त्राणि दारेषु।।

नीलकण्ठ दीक्षित, वैराग्यशतक, २४

अपने पिता से करते हैं झगड़ा
बेटो को पितृभक्ति का पाठ पढाते हैं
पराई स्त्रियों को ला ला कर रखते हैं घर में
पतिव्रत धर्म का शास्त्र सुनाते हैं अपनी स्त्री को।

२७२. वन्ध्येत्याहुस्तरुणीं जरतीति परित्यजन्ति बहुपुत्राम्।
अपि निन्दन्त्यल्पसुतां का गृहिणी कामिनां हृद्या ? ।।

वही. ४८

तरुणी है, तो उसको बाँझ कहेंगे
कई बेटो वाली हुई, तो
उसे बुढिया कह कर छोड़ देंगे
कोसेगें कम बेटो वाली को
कौन सी गृहिणी आखिर
कामियों के मन के लिये
होगी सुखकर ?

२७३. यान्ति शुच मकृतदारा द्वे दारे नेति कृतदाराः।
ते परदारा नेति स्त्रीभिस्तृप्तान्न पश्यामः।।

वही, ४९

विवाह न होने तक कुँवारेपन का दुःख
विवाह हो जाने पर
दो पत्नियाँ क्यों न हुई यह दुःख
कई पत्नियाँ हो गई, तो
प्रेमिका न हुई, यह दुःख
पुरुषों को नहीं मिला कभी
स्त्री से तृप्ति का सुख।

२७४. निःशङ्कं यत् तदुच्चैर्वद कुरु विकटं स्वाननं ज्ञानगर्वा
च्छ्लाघस्वात्मानमन्यान् भष हस सहसा किञ्चिदश्लीलमुक्त्वा।
सावज्ञं खण्डखाद्यं पठ विवद समुत्कर्षयन् मूर्खलोका
निच्छेश्चेत् सूरिभावं जडजनपुटतो मूर्खवृन्दारकोऽपि।।

सुभा. २३८४

निःशंक रह कर जो मन में आये बक दो ऊँचे स्वर में
ज्ञान के गर्व से मुखड़ा बना डालो कदम विकट
अपनी प्रशंसा में कसीदा काढ़ो
दूसरो पर कीचड़ उछालो
कुछ भद्दी सी बात कह कर अचानक हँस पड़ो
फिर सामने वाले को हिकारत से देख पढ़ डालो
खंडन खंडखाद्य का कोई पाठ
उछालो कोई विवाद
जुटाते जाओ भीड़ मूर्ख लोगों की
स्वयं मूर्खशिरोमणि हो कर भी
यदि चाहो
जड़ बुद्धि जनो के बीच
तीस मार खाँ बनना।

२७५. व्यासादीन् कविपुङ्गवाननुचितैश्चोद्यैः सलीलं भषन्-
नुच्चैर्जल्प निमील्य लोचनयुगं श्लोकान् सगर्वं पठन्।

काव्यं स्वीकुरु यत् परैर्विरचितं स्पर्धस्व साकं बुधै-
र्यद्यभ्यर्थयसे श्रुतेन सहितः पाण्डित्यमाप्तुं बलात्।।

वही, २३८'१

व्यास आदि प्राचीन श्रेष्ठ कवियों पर कीचड़ उछाल दे
इतरा कर कुछ तो भी बक–झक कर
कुछ चीखो, चिल्लाओ
फिर आँख, मूँद कर गरूर में भर कर
श्लोक बोल जाओ
दूसरे की कविता को अपनी कह कर
सभा में गौरव के साथ सुनाओ
यदि बलपूर्वक ज्ञानी और मानी
तुम जो बनना चाहो।

२७६. प्रामाण्यमाक्षिपति साधयतां शिवादीन्
देवानभीः किमपि दुर्मतिरागमानाम्।
पुत्रे शिशौ विकृतिमीषदवेक्ष्य भीतो
धावत्ययं प्रतिनिशं सनबलिः श्मशानम्।।

सकमृ. ८९।१६

वह ईश्वरवाद का खण्डन करता है
तर्क से ज्ञान से
वह निर्भय हो कर
आगम के प्रमाण पर करता है आक्षेप
अपने बच्चे को थोड़ा सा भी बीमार देख कर
भगता है मसान की ओर
पूजा का थाल सजा कर।

२७७. स्नायं स्नायमनारतं धनवतामग्रे निरीहव्रताः
प्रायो मृत्तिलदर्भसङ्ग्रहधनाः सम्मोहयन्ते जगत्।
अम्भःकेलिकृतावतारतरुणीनीरन्ध्रवक्षोरुह-
द्वन्द्वालोकनकूणितेक्षणयुगं ध्यायन्त्यमी दाम्भिकाः।।

सूमु०.८९।८

कर के स्नान
वे लगा रहे हैं ध्यान
धन वालों के आगे दिखते हैं ऐसे
निरीहता का व्रत ले कर बैठे हों जैसे
माटी, तिल, दर्भ का संग्रह ही जैसे बस इनका धन है
इस तरह मोह लेते हैं जगत् भर को
पर उधर जो पानी में उत्तर कर रही हैं केलि
तरुणियाँ
उनके उन्नत वक्ष युगल
तकने को तिरछी आँखे ये किये हुए हैं
और यही है ध्यान इनका।

२७८. **स्नानं सिन्धुजले विधाय जनतासन्ने निषण्णस्तटे**
काषायेण घनावगुष्ठिततनुः प्राप्तः परिव्राजकः।
सूपापूपघृतोक्षरा मधुमती भिक्षा यतो लभ्यते
यस्मिन् वा गतभर्तृका युवतयस्तत् तद् गृहं ध्यायति ।।
वही, ८९।१४

नदी के जल में कर के स्नान
भीड़ भाड़ वाले घाट पर बिराजे हैं संन्यासी महाराज
भगवा कपड़े से डूब ढका है देह
सूप, पुए की घी में तर साथ मिठाई के
भिक्षा मिल सके जहाँ से
और तरुणियाँ भी हो जहाँ
पति जिनके बाहर हो
ऐसे घरों का लगा रहें हैं हिसाब।

२७९. **वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितै-**
र्नीत्वानिर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्रः क्षपाः।
सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात् प्राप्ताग्निहोत्रा इति
ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद्वञ्च्यते।।
कृष्णमिश्रः प्रबोधचन्द्रोदय, २।१

वेश्याओ के घर मदिरा की सुगन्ध में सराबोर
मुख वाली ललनाओ के मुख की मदिरा से आमोदित
छककर मन्मथ के उत्सव के रस में
खिली चाँदनी वाली रात बिता कर
वे बन जाया करते दिन में
सर्वज्ञ भी, दीक्षित भी और अग्निहोत्री भी
ब्रह्मज्ञानी भी और तपस्वी भी
और यों लूटा करते हैं धूर्त
जगत् को।

२८०. गड्.गातीरतरड्. गशीतलशिलाविन्यस्तभास्वद्वृसी–
संविष्टा:कुशमुष्टिमण्डितमहादण्डा:करण्डोज्ज्वला: ।
पर्यायग्रथिताक्षसूत्रवलयप्रत्येकबीजग्रह–
व्यग्राग्राड्. गुलयो हरन्ति धनिनां वित्तान्यहो दाम्भिका: ।।
वही, वही २।५

गंगा के तीर पर
तरंग से शीतल शिला पर
चमचमाती गद्दी बिछा कर
हाथ में कुश ले कर
विशाल दंड धारण कर के
उज्ज्वल कमंडल वाले
सरकाते हैं वे
बारी बारी से व्यस्त अंगुलियो से
हाथ में पकड़ी हुई अक्षमाला का
एक एक मनका
और हड़पते जाते हैं
धनियों का रुपया–पैसा
ये दांभिक जन।

◆◆◆

(४०) अनुभव

२८१. एके कुटीरकोणेऽपि न लक्ष्यन्ते स्थिताः क्वचित्।
अन्येषां विभवस्यैतद् ब्रह्माण्डमपि सङ्कटम्।।

अज्ञात, सूक्तिमुक्तावली, ९५।१

कोई हैं जो झोपड़ी के एक कोने में
रह कर भी अलक्षित हैं।
ये दूसरे हैं, इनके वैभव के लिये
सँकरा है सारा ब्रह्मांड भी।

२८२. सहोदयव्ययाः पञ्च दरिद्रस्यानुजीविनः।
ऋणं दौर्भाग्यमालस्यं बुभुक्षापत्यसन्ततिः।।

हेमचन्द्रसूरि, वही,१२७।१

पाँच चीजें
गरीब के साथ ही जनमती हैं
साथ ही मिट्टी में मिलती हैं
और बनी रहती है उसके साथ—
ऋण, दुर्भाग्य, आलस्य, भूख और
सन्तानो की कतार।

२८३. उत्तुङ्गे विभवद्रुमस्य शिखरे भुक्त्वा फलं स्वेच्छया
तस्मात् प्रस्खलितः पदाद् विधिवशाद् भ्रष्टो निरालम्बनः।
पातालोदरभीषणे बहुविधक्लेशोरगाध्यासिते
दौर्गत्यावटगर्भके निपतितश्चित्रं यदि प्राणिति।।

अज्ञात, वही, १२७।९

वैभव वृक्ष के उत्तुंग शिखर पर रह कर
स्वेच्छा से उसके फल खा खा कर
विधि की करनी से जो उससे गिरा
फिसला और सहारा कुछ भी पा न सका
वह गरीबी के खड्ड में जा फँसा है
जो हैं पाताल की खोह की तरह भयावह
जिसमें रेंगते हैं क्लेशों के असंख्य नाग
यहाँ पड़ा रह कर
यदि वह ले रहा है साँस
तो यह अपने आप में बड़ा अचरज है।

२८४. सद्यो विभिद्यते नूनं दरिद्रतनुपञ्जरम्।
यदि न स्यान्मनोराज्यचिन्तासन्ततिभिर्दृढम्।।

सुरको. १३१९

गरीब के देह का पिंजरा
तत्काल टूट कर बिखर जाय
यदि मन के राज्य की
चिन्ताओ के ताने बाने में
बँधा – गुँथा न रहे।

२८५. अध्वश्रमाय चरणौ विरहाय दारा
अभ्यर्थनाय वचनं च वपुर्जरायै।
एतानि मे विदधतस्तव सर्वदैव
धातस्त्रपा न यदि किं न परिश्रमो पि ? ।।

राजशेखर, सुरको. १३२१

तुमने दिये हैं मुझे कई उपहार
चल चल कर थकते जाने को दो चरण

बिछुड जाने को पत्नी,
प्रार्थना करने के लिये वाणी,
और बुढा जाने के लिये शरीर
अपने इन उपहारो पर
यदि लज्जा तुम्हे नहीं है
तो वे सब हैं मुझे स्वीकार
पर इतना ही पूछता हूँ प्रभु,
निरंतर मुझे देते देते ये उपहार,
क्या अब भी तुम थके नहीं ?

२८६. परिग्रहभराक्रान्तं दोर्गत्यगतिचोदितम् ।
मनो गन्त्रीव कुपथे चीत्करोति च याति च ।।

राजशेखर द्वारा काव्यमीमांसा में उद्घृत।

बैलगाड़ी की तरह है मन
गृहस्थी के बोझ से लदा–फदा
दुर्गति में फंस कर बढ़ना चाह रहा ।
खराब रास्ते पर
करता हैं चीत्कार
बढ़ता है आगे।

२८७. गात्रैर्गिरा च विकलश्चटुमीश्वराणां
कुर्वन्नयं प्रहसनस्य नटः कृतोऽस्मि ।
नो वेद्मि मां पलितवर्णकभाजमेतं
नाट्येन केन नटयिष्यति दीर्घमायुः ।।

मुरारिः अनर्घराघव, तथा सुरको. १५२६

ढल गये अंग बोली है अब लटपट
ठाकुर की ठकुरसुहाती करते करते
बनता गया मैं
प्रहसन का दयनीय पात्र
पक गये केश,
पर नहीं जानता कब तक
किस किस नाटक में नचवायेगी मुझ को
उमर यह लम्बी।

२८८. त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नता:
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति न:।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्.मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो नि:स्पृहा:।।

तुम राजा हो, तो हम भी
गुरु की उपासना कर उनकी प्रज्ञा के
अभिमान में ऊँचे हैं
नाम तुम्हारा है अपने वैभव के कारण
कीर्ति हमारी भी दिशा दिशा में फैलाते हैं कविगण
हे मानी, बहुत बड़ा तो नहीं हैं यों हम दोनों में अन्तर
फिर भी यदि तुम मुँह फेरे हो हम से
तो हम को भी तुम से क्या लेना देना है ?

२८९. अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थं
शूरस्त्वं वाग्मिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं न:।
सेवन्ते त्वां धनान्धा मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न ते चेत् त्वयि मम सुतरामेष राजन् गतोऽस्मि।।

तुम स्वामी हो रुपये पैसे के
हम स्वामी हैं शब्दो के। तुम शूरवीर हो, वाणी से
दर्प के ज्वर को ठंडा करने की विधि में
अक्षय है हमारा भी कौशल।
तुम्हारी सेवा करते हैं धनान्ध
तो सुनने के इच्छुक रहते हैं मुझ को भी
लोग बुद्धि का कलुष दूर करने को।
यदि आस्था नहीं है तुम्हारी मुझ में
तो हे राजन्, मेरी ही तुम में कहाँ से होगी?
मैं फिर चलता हूँ।

२९०. पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीं कपालीं
आदाय न्यायगर्भद्विजबहुहुतभुग्धूमधूमोपकण्ठम्।
द्वारं द्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो

मानी प्राणी स धन्यो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः।।

भर्तृहरि, शतकत्रदिसुभाषितसंग्रह, १६३, १६६, १७९

पावन किसी गाँव में या वन में
श्वेत वस्त्र से ढका खप्पर उठाये
पेट का गड्ढा भरने को
न्यायी विप्रो के द्वार हवन जहाँ होता हो उन स्थानों के
निकट द्वार द्वार भटकना भूख से आकुल
मानी प्राणी का
ज्यादा अच्छा है
तुल्य कुल वालो के बीच दीन बन कर रहना नहीं।

२९१. किं कन्दा कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः।
वीक्ष्यन्ते यन् मुखानि प्रसभमुपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोपात्ताल्पवित्तस्मयवशपवनानर्तितभ्रूलतानि ।।

भर्तृहरि, शतकत्रयादिसुभाषितसंग्रह, १८४

क्या लुप्त हो गये हैं कन्दराओं के कन्द
या पर्वतों के सूख गये हैं निर्झर ?
कया एकदम ध्वस्त हो गये हैं सरस फल वाले पेड़
और वल्कल वाली शाखाएँ उनकी?
जो मुँह ताके जा रहे हैं
विनय का लबादा ओढ़े रहने वाले उन दुष्टों के
कठिनाई से पाये थोड़े से धन के घमंड में
हवा में थिरकती भौंहे वाले चेहरे ?

२९२. दीनादीनमुखैरशक्तशिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चेद् गेहिनी।
याच्ञा भङ्गभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः।।

भर्तृहरि, वैराग्यशतक, २१

भूखे और चीखते
दीन वदन वाले दुबले बालक

फटा पुराना उसका आँचल
खींचा करते हैं
जो स्वयं दीन है,
और धुरी से कटी हुई है।
न देखे आदमी यदि ऐसी घरवाली
तो इस जले पेट की खातिर
क्यो कोई आखिर बोलेगा—
दे दो दाता—— यह दीन वचन
झिड़की मिलने के डर से टूट टूट जाते
डूबते गद्गद अक्षर वाला ?
यदि उसमें थोड़ा भी मान शेष है।

२९३. **न नटा न विटा न गायका**
न च सभ्येतरवादचञ्चवः ।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं
स्तनभारानमिता न योषितः

वही, वही, ५९

हम नहीं है नट, भाँड – भड़ैते, गायक
गन्दा भद्दा भी कहना नहीं जानते हैं हम
झुक झुक आते वक्षःस्थल वाली
औरत भी तो नहीं हैं हम।
फिर राजा जी के दर्शन
पाने वाले
हम हैं ही कौन ?

२९४. **गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलिः**
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न सुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसा पुत्रोऽप्यमित्रायते ।।

वही, वही, ७३

झुर्रियो में सिमट गया है देह
गति लड़खड़ाती है

झड़ चुकी है पाँत दाँतों की
नष्ट है दृष्टि, बढ़ रहा है बहरापन
और चुआता है लार वदन
रिश्तेदार बात की कद्र करते नहीं,
पत्नी सेवा करती नहीं,
पर कष्ट एक है इस सब से बढ़कर
इस बुढ़ापे में आ कर
बेटा तक रह गया है बैरी बन कर ।

२९५. **क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृत्**
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्बारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो
दृष्टो येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम्।।

कल्हणः राजतरङ्गिणी

बेटा कुम्हलाया हुआ भूख से
बहू चाकरी करती दूजे के घर
मित्र अवसादग्रस्त
दुह ली गई गाय बिना चारे–पानी के
विवश हम्बा हम्बा की पुकार करती हुई
माता और पिता
मौत खड़ी है जिनको घेरे
पथ्य नहीं और जुट पाता है जिनको, और साथ में ——
शत्रु से जीत लिये गये स्वामी
यह सब जिसने देख लिया
वह फिर और नरक में
इससे ज्यादा अप्रिय क्या भोगेगा ?

२९६. **अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी**
गुरुवरगुरुग्रामाम्भोजस्फुटोज्ज्वलचिन्द्रका।
विपुलविलसल्लज्जावल्ली विदारकुठारिका
जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति डिम्बनाम्।।

शतकत्रयादिसुभाषितसंग्रह २०७
महासुभाषितसंग्रह, भाग–२,२३०२

पेट की यह खाई
जो कभी न भर पाई
कराती है कैसी कैसी जग हँसाई
यह तोड़ देती है मनचाहे मान की पक्की गाँठ को
बड़े बड़े गुणो के खिलते कमलो पर
यह गिर पड़ती है चटकती चाँदनी की तरह
विशाल विलसती लाज की बेल को
काटने की यह है कुल्हाड़ी

२९७. अभिलषति पद्मयोनौ
निःस्ववधूनां सुतान् स्रष्टुम्।
स्वं स्वं विशङ्. कमाना
वेपन्ते क्रकचवर्तिनो लोकाः।।

विद्याकरसहस्रकम् ३००

फटेहाल घरवालियों के
बेटे रचने की इच्छा करते हैं विधाता
कहीं हमारे यहाँ तो नहीं, हमारे यहाँ तो नहीं –
यह सोच कर
भय से थरथराते हैं लोग
आरी के नीचे कटते से।

२९८. यासां बलिर्भवति मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव सम्प्रति विरूढतृणाङ्.कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः।।

मृच्छकटिक, १।९

इन घर की देहरियो पर
बिखरे बलि के दाने चुगते थे आ आ कर
सारस और हंस जहाँ पर
खर पतवार उगी है
आज उन्ही पर
और पूजा की अंजलि अब इन पर बिखरी
उसके कीड़े कुतर रहे हैं।

२९९. सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतत् तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति।।

वही, १।१३

चिन्तित नहीं हूं मैं वैभव के चुक जाने से
धन आता है और जाता है भाग्य के क्रम से
धन का आसरा छूट गया तो छूट गया, पर जल रहा हैं मन
यह जो एक एक कर छोड़ते चले जा रहे हैं अपने ही जन।

३००. दारिद्रयाध् ध्रियमेति ह्रीपरिगतो प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निवेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्।।

वही, १।१४

सकुचाया सकुचाया रहता है गरीब
सकुचाने से छीज जाता है तेज उसका
तेज हीन दुत्कारा जाता है
दुत्कारा जाने पर वह बन जाता है वैरागी।
विराग में फिर दुख पाता है,
और दुःख से घिरने पर
बुद्धि छोड़ देती है उसको
बुद्धिहीन का फिर हो जाता है नाश,
एक गरीबी सब विपदाओ का वास।

३०१. दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्तवं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत् तस्य सम्भाव्यते ।।

वही, १।३६

गरीबी के कारण सगे भी
कहे में नहीं रहते मनुष्य के,

नेह रखने वाले मित्र मुँह फेर लेते हैं
मुँह बाये खड़ी हो जाती हैं विपदाएँ आगे
भीतर से निचुड़ जाता है गरीब
फीका पड़ जाता है उसके शील का चन्द्रमा
उसी के मत्थे मढ़ दिये जाते हैं
औरो के किये हुए पाप–कर्म।

३०२. सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते सम्भाषते नादरात्
सम्प्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदोलज्जया
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम्।।

वही, १।३७

कोई साथ नहीं देता गरीब का
कोई आदर से नहीं बोलता उससे
यदि वह जाता है धनियों के घर
उत्सव के अवसर पर
तो हेठीं से देखा जाता है
वह दूर दूर रहता है महाजन से
अधनंगा वह लज्जा से सिकुड़ा रहता है
लगता है गरीबी है पाँच महापातकों से
बड़ा छठा महापातक।

३०३. अयं पटो मे पितुरङ्गभूषणं
पितामहाद्यैरुपभुक्तयौवनः।
अलङ्करिष्यत्यथ पुत्रपौत्रकान्
मयाधुना पुष्पवदेव धार्यते।।

सुरत्ना० पृ० ६८

यह कपड़ा बन कर रहा गहना
मेरे पिता के देह में,
मेरे दादा–परदादा ने भी इसको पहना यौवन में
मेरे बाद इसे पहनेगे
मेरे बेटे, पोते

इसीलिये मैं इसे पहनता हूँ ऐसे
जैसे धारे हूँ फूल।

३०४. दूये कान्ताकरं वीक्ष्य मणिकङ्कणवर्जितम् ।
अतः परं परं दूये मणिकं कणवर्जितम् ।।
वही, पृ. ६७

दुःख होता है घरवाली की कलाई
देखे देख कर मणि के कंगन से सूनी
और अधिक उससे दुःख होता है पर
घड़ा देख कर
जो अनाज के कन से है सूना ।

३०५. धनं यदि गतं-गतं चरणयुग्मरेणूपमं
धरा यदि गता गता कथय किमेतावता।
परन्त्विदमरुन्तुदं धनिजनैरिदानीन्तनै-
र्दरिद्रगणनान्तरे मम यदङ्.कपातः कृतः ।।
सुभा० हा. रा. १४०३

धन जो गया सो गया
दोनों पाँवों की धूल जैसा ही तो था वह
भूमि जो गई, सो गई
कहो, इससे बिगड़ा ही क्या ?
पर यह तो है प्राणो का संकट
जो आजकल के ये धनीजन
दरिद्रो की गिनती में
जोड़ मुझे जो लेते हैं।

३०६. धन्यानां वरपूरितमुख श्यामाङ्गनालिङ् गन
प्राप्तानेकसुख प्रमोदवपुषां रम्यस्तुषारोद्गमः ।
अस्माकं तु विदीर्णखण्डितपटप्रच्छादितोद्घाटित-
क्रोडस्वीकृतजानुवेपथुमतां चेतः परं सीदति ।।
अज्ञात, सकमृ. १३४६

उनके लिये सुहावनी हैं ये सर्दियाँ
ठूँस ठूँस कर खा पी कर
साँवली सलौनीको गले लगा कर
जो इनमें पाते हैं भाँत भाँत के सुख
वे धन्य हैं ।
हम चिथड़े चिथड़े होती चादर से
ढाँप ढाँप कर तन, हलकान हुए जाते हैं,
छाती से घुटने चिपकाये और काँपते
दुःख पाते हैं।

२०७. न याति समतां समैर्न खलु मूल्यममालम्बते
खलेन करकौशलादहह दूरमुद्धूयते।
वृथैव विवृताननो निरभिसन्धि शब्दायते
पुलाक इव लाघवं व्रजति निर्धनो मानवः।।

अज्ञात, विद्याकरसहस्रकम्, २९७

बराबरी वालो की बराबरी नहीं कर पाता
कोई मोल नहीं उसका हो पाता.
अपने कर कौशल से
दूर उड़ा देता है उसको खल
कोई गठबन्धन नहीं उसका है
व्यर्थ वह मुँह बाये
उगलता है शब्द
पुआल की तरह हल्का होता हैं।
निर्धन मानव।

◆◆◆

(४१) दृष्टि

३०८. येषां वल्लभया समं क्षण इव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषां शीततरः शशी, विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्।
अस्माकं तु न वल्लभा न मदनस्तेनोभयभ्रंशिनां
इन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः।।

काव्यमीमांसा में राजशेखर द्वारा उद्धृत

लम्बी रात जिनकी
एक पल की तरह बीत जाती है
अपनी प्रिया के संग
चन्द्रमा उनके लिये होता है शीतल।
ये जो विरही हैं,
उन्हें वह जलाता है आग की तरह
और हम— हमारे न प्रेमिका हुई, न विरह हुआ
हम दोनों ही ओर से गये
चन्द्रमा हमारे लिये चन्द्रमा है केवल
उजले दर्पण सा
न गर्म, न ठंडा।

३०९. नो बद्धं शरदिन्दुधामधवलं पाणौ मुहुः कङ्कणं
व्रीडामन्थरकोमलं नववधूवक्त्रं च नास्वादितम्।
नीतं नैव यशः सुरेन्द्रभवनं शस्त्रेण शास्त्रेण वा
कालो जीर्णमठेषु धृष्टपिशुनैश्छात्रैः सह प्रेरितः ।।
अज्ञात, सुरको. १४६९

शरद् के चन्द्रमा सरीखा धवल कंगन
हम कर में बाँध न पाये
लाज से झुक झुक पड़ते कोमल
नई बहू के मुखड़े का स्वाद
हम ले न पाये,
शस्त्र से, या शास्त्र से
अमरपुरी तक अपना यश
हम भेज न पाये,
पुराने मठो में ढीठ चुगलखोर चेलो के संग
रहते रहते चुकते चले गये हैं हम

३१०. वर्षाः कर्दमहेतवः प्रतिदिनं तापस्य मूलं शरद्
धेमन्ते जडता तथैव शिशिरेऽप्यायास्यते वायुना।
चित्तोन्मादकरो वसन्तसमयो ग्रीष्मोऽपि चण्डातपः
कालः काल इति प्रहृष्यति जनः कालस्य का रम्यता ।।
अज्ञात, वही, १४६७

कीचड़ पैदा कर देती है वर्षा,
शरद भी ताप दिया करती है,
हेमन्त में शीत से अकड़ जाता है तन,
शिशिर में सही नहीं जाती ठंडी हवा,
वसंत मन को ब्यौरा देता है
ग्रीष्म में घाम होता है प्रचंड
समय, सुहावना समय ——कह कह कर
हर्षित होते हैं लोग
सुहावना क्या है समय में ?

संस्कृत पं.कद पुस्तक
पु० क्र...
संस्कृत विभाग

३११. माकन्देषु न यद्यपि प्रतिदिनं गर्भाङ्कुरग्रन्थयो
भिद्यन्ते, न च यद्यपि प्रतनुते पुष्पाण्यशोकद्रुमः।
धत्ते नान्यभृतस्य यद्यपि कलं कण्ठे पदं पञ्चमो
भ्रातः, पश्य, तथाप्ययं हतमधुश्चेतश्चमत्कुर्वते।।

भोज द्वारा उद्धत

अब रोज रोज कहाँ आती हैं बौरे आमों में
न लहककर फूलता है अशोक ही अब।
कोयल के कंठ से पंचम स्वर भी अब नहीं फूटता वैसा
भैया रे, फिर भी बसन्त दई मारा यह देखो–
चमका ही देता है मन।

३१२. वहति न पुरः कश्चित् पश्चान्न कोऽप्यनुयाति मां
न च नवपदक्षुण्णो मार्गः कथं न्वहमेककः।
भवतु विदितं पूर्वव्यूढोऽधुना खिलतां गतः
स खलु बहलो वामः पन्था मया स्फुटमुर्जितः।।

धर्मकीर्ति, सुरको. १७२९

कोई नहीं जा रहा है मेरे आगे आगे
कोई नहीं आ रहा है मेरे पीछे पीछे
ऐसा भी नहीं कि मैं ही चला हूँ पहली बार
इस पथ पर
फिर मैं भला एकाकी कैसे ?
चले हैं पहले भी इस पर लोग
आज भले यह रीता हो
पर मैंने तो चुन ही लिया बस
यही समृद्ध वाम पन्थ।

३१३. अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना–
प्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम्।।

वही, ध्वन्यालोकवृत्ति में ३।४० के बाद उद्धृत

थोड़ी मति वाला शक्ति लगा कर
धँस नहीं पाया इसके भीतर
थाह नहीं ले पाया इसके परम तत्त्व की
और अधिक जतन कर कर के भी कोई
ऐसा है यह मेरा मत, इस जग में
नहीं मानने वाला इसको कोई मिल पाया
सागर के भीतर सागर के जल सा
यह बुढा जायेगा मेरे ही भीतर

३१४: शैलैर्बन्धयति स्मवानरहृतैर्वाल्मीकिरम्भोनिधिं
व्यासः पार्थशरैस्तथापि न तयोरत्युक्तिरुद्भाव्यते।
वागर्थौ च तुलाधृताविव तथाप्यस्मत्प्रबन्धानयं
लोको दूषयितुं प्रसारितमुखस्तुभ्यं प्रतिष्ठे नमः।।

वही, सुरको, १७२६, समकृ०२७७४

वाल्मीकि ने पत्थर उठवाये वानर के दल से
और बनवाया सागर पर उनसे सेतु
व्यास ने भी यह ही करवाया अर्जुन के बाणों से
पर उन दोनों में अत्युक्ति नहीं मानी जाती है।
हमने जो धर लिये हैं तराजू पर शब्द और अर्थ
फिर भी जो हम लिखते हैं उस पर
दोष लगाने को मुँह खोले खड़े हुए हैं लोग
प्रतिष्ठा, तुझे नमस्कार।

३१५ विकसामि रवावुदिते सङ्कोचमुपैमि चास्तमुपयाते।
दारिद्र्यसरसि मग्नः पङ्कजलीलामनुभवामि।।

अज्ञात, सुभा. ३१८६

सूरज के उगने पर
मैं खिलता हूं
सूरज के ढल जाने पर
कुम्हला जाता हूँ मैं
गरीबी के तालाब में उगा
एक कमल
मैं अपने को पाता हूँ।

३१६. दृष्टं दुर्जनचेष्टितं परिभवो लब्धः समानाज्जनात्
पिण्डार्थं धनिनां कृतं श्वलडितं भुक्तं कपालेष्वपि।
पद्भ्यामध्वनि सम्प्रयातमसकृत् सुप्तं तृणप्रस्तरे
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त कुरु हे तत्रापि सज्जा वयम् ।।

विक्रमादित्य, वही, ३१९३

दुष्ट जनो की चेष्टाएँ परखीं
अपनों से पाया अपमान
रोटी के टुकड़े के लिये
कुत्ते की तरह पूँछ हिलाई
धनिको के आगे।
खप्पर में भी पाया भोजन।
पैरों से बार बार चले धरती पर
सोये तिनको पर, पत्थर पर
हे मृत्यु, और जो कुछ न किया हो
सो भी करा ले
उसके लिये भी हम हैं तत्पर।

३१७. तावद् विद्यानवद्या गुणगणमहिमा रूपसम्पत्तिशौर्यः
स्वस्थाने सर्वशोभापरगुणकथने वाक्पटुस्तावदेव।
यावत्पाकाकुलाभिः स्वगृहयुवतिभिः प्रेषितापत्यवक्त्रात्
हे बाबा, नास्ति तैलं न च लवणमपीत्यादि वाचां प्रसारः ।।

अज्ञात, सुभाषितहारावली, ८५१, सु. रत्ना ११३

तभी तक विद्या है निष्कलंक
तभी तक है गुण गुण की महिमा
रूप, संपदा और शूरता ----सभी हैं तभी तक
बनी रहती हैं ठीक ठाक सारी शोभा भी तब तक
वाणी की चतुराई चलती है तब तक
करती रहती हैं वह सब के दोष उजागर तब तक
रसोई में जुटी बहुएँ घर की, जब तक
बच्चे, को भेज कर कहला न दे उसके मुँह से
बाबा, घर में तैल नहीं है, नमक नहीं है।

३१८. ननान्दा सानन्दा हसितवदनाभूद् बहिनिका
कृतार्था च श्वश्रूः कुपितदृशि पत्यौ मयि सखि।
स चेदुच्चैर्ब्रूते कठिनवचनैस्तर्हि सकलाः
करिष्यन्ति प्रायो वसनरहितास्ताण्डवविधिम्।।

अज्ञात, पद्यरचना, २९१

ननद भर उठी आनन्द से
जेठानी के मुँह से फूट पड़ी हँसी
कृतकृत्य हो गई साँस
पति ने जैसे ही ताका मुझको गुस्से में भर कर
वे बरस पड़े अभी चीख कर यदि सखि,
तो जानो ये सब प्रमुदित हो हो कर
नंगा नाच कर उठें।

३१९. यामाराद्धुं न गणितमिदं जीवितं वा धनं वा
यस्याः प्रीतिर्मनसि कलिता ज्यायसी मोक्षतोऽपि।
सेवैदानीं वयसि गलिते सम्प्रहीणे च वित्ते
तूलायापि त्रिपुरहर मां मन्यते नैव भार्या।।

जिसका जी बहलाने को
गिना नहीं हमने
न यह जीवन, न धन,
जिसका प्रेम बड़ा माना हमने
मुक्ति पाने से भी,
वही यह भार्या
आयु के ढल जाने पर
धन के छीज जाने पर
त्रिपुरहर, मुझे
रूई के बराबर भी नहीं मानती अब।

३२०. कृत्वा पापान्यपि खलु मया पोषिताः शैशवे ये
निद्राहारावपि विजहता शिक्षिता ये कलासु।
प्रादुर्भूताः स्वयमिव हि ते प्राक्तनादृष्टलब्ध-
प्रज्ञोन्मेषा इव च तनया न स्मरन्त्यात्मनोऽपि।।

ये बेटे हैं
इनको बचपन में
पाप भी कर कर के पाला
नींद और भोजन छोड़कर
इन्हें कलाएँ सिखाई
वे अब ऐसा दिखाते हैं जैसे
पहले के अपने भाग्य से ही वे ऐसे जानकार और गुणी हो गये
स्वयं ही जनम गये,
उन्हें अब अपनी भी खबर नहीं है।

३२१ दाराः पुत्रा परमसुहृदो बान्धवाःकिङ्करा वा
स्वप्नावस्थास्वपि च विरहं ये मया न क्षमन्ते।
अद्यासन्ने तपनतनयस्याज्ञया दूतवर्गे
तेष्वेकोऽपि स्मरहर न मे गन्तुमन्वस्ति जन्तुः।।

नीलकण्ठदीक्षित, शान्तिविलास, ३-५

पत्नी, बेटे, परमप्रिय मित्र, बन्धुबान्धव और सेवक
ये सपने में भी नहीं सह पाते थे मेरा विरह।
आज जब कि यम के दूत मेरे पास आ रहे हैं
त्रिपुरहर, इनमें से एक भी प्राणी नहीं है अब ऐसा
जो साथ दे मेरा।

३२२ कट्यां चोलपटं तनौ सितपटं कृत्वा शिरोलुञ्चनं
स्कन्धे कम्बलिका रजोहरणकं निक्षिप्य कक्षान्तरे।
वक्त्रे वस्त्रमथो विधाय ददतः श्रीधर्मलाभाशिषं
वेषाडम्बरिणः स्वजीवनकृते विद्मो गतिं नात्मनः।।

कमर में चोल पट बाँधा हमने
देह पर लटकाया श्वेत वस्त्र
मस्तक का लुंचन करवाया
काँधे पर डाला कंबल
और बगल में दाबी मोरपंखी
मुख पर कपड़ा बाँधा

और देते रहे धर्म लाभ का आशीष
जीवन चलाने के लिये कितना आडम्बर
हमने धरा बेष का
पहचाना नहीं पर अपने को।

३२३. भिक्षापुस्तकवस्त्रपात्रवसतिप्रावारलुब्धा यथा
नित्यं मुग्धजनप्रतारणकृते कष्टेन विद्यामहे।
आत्मारामतया तथा क्षणमपि प्रोज्झ्य प्रमादद्विषं
स्वार्थाय प्रयतामहे यदि तदा सर्वार्थसिद्धिर्भवेत्।।

भिक्षा, पोथी, कपड़े
रहने का ठिकाना और ओढ़नी
इनके लालच में
जैसे हम भोले लोगो को ठगते रहे
प्रतिदिन स्वयं भी क्लेश उठाते रहे
वैसे ही अपने में गहरे उतर कर
प्रमाद के शत्रु को क्षण भर झाड़–पौंछ कर
अपने लिये यदि करते प्रयास
तो जीना सफल होता।

३२४. पाखण्डानि सहस्रशो जगृहिरे ग्रन्था भृशं पेठिरे
लोभाज्ञानवशात् तपांसि बहुधा मूढैश्चिरं तेपिरे।
क्वापि क्वापि कथञ्चनापि गुरुभिर्भूत्वा मदो भेजिरे
कर्मक्लेशविनाशसम्भ विमुखान्यद्यापि नो लेभिरे ।।

आत्मनिन्दाष्टक, ३–५

हमने अपनाये हजार हजार पाखंड
हमने पढे ढेरो ग्रंथ
लोभ और अज्ञान के फेर में
बुद्धि बिसरा कर
भाँत भाँत के तप हमने किये
कहीं कहीं जैसे तैसे गुरु का बाना धर कर
मदमत्त हम हुए

नहीं पा सके पर अभी तक
कर्म और क्लेश के विनाश की सम्भावना।

३२५. काव्यैर्यत्र कविप्रथा धनलवक्रीतैरपि प्राप्यते
गुम्फक्लेशमुपासितुं कृतधियां कस्तत्र काले क्रमः ?
ग्रथ्नन्तस्तदपि प्रबन्धुकुसुमान्याजन्म खिद्यामहे
कुप्यामो व्यसने चिरं विरचिते कस्मै परस्मै वयम्।।

मल्लिकामकरन्द १।८

धन के टुकड़े फैंक कर
खरीद ली जाती है कविता
हर कोई कहलाता है कवि फिर
फिर रचने के क्लेश का वरण
क्यों करे बुद्धिमान जन ?
फिर भी हम गूँथते हैं फूलों की तरह प्रबंध
और खिन्न होते हैं
यह संकट जब हमने स्वयं वरा है
तो फिर किसी और पर
क्यों क्रोध करें हम ?

३२६. वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृपा वैडूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता ।।

अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती, भा० १
में उद्धृत, पृ. ३३४, अ. ६

थनों के मार से झुकी दुधारू
गाय मान कर
व्यर्थ साँड इक मैंने दुहा
कोई नवयौवना समझ कर
बाहों में बाँध लिया हिजड़ा
चमकीले इक काच शकल पर
आस लगाई हमने मणि की,

मूढ़ मैं कर बैठा नमन जो
कृपण और अगुणज्ञ आपको।

३२७. नीताः पुण्याग्निगेहे शिशिररजनयो स्तोमसत्रे निदाघं
शीर्णे कुग्रामदेवीपरिसरसदने वासराः प्रावषेण्याः।
दृष्टं व्याभुग्नभीमभ्रकुटि च वदनं सम्पदा गर्वितानां
तत् त्वं तृष्णे कृतार्थीभव कुरु विरतिं मुञ्च नः साधु यामः ।।

योगेश्वर, सकमृ. २३१७

बैठ अलाव के निकट तापते
काटी
जाड़े की कितनी रातें
किसी धर्मशाला में पड़े रह
गर्मी की वे दुपहरें गुजारी
वर्षा के वे दिन टूटे फूटे
गाँवड़े के देवी मंदिर के भीतर
काट दिये हमने यों रह कर
देख लिये तिरछी और भयंकर भौंहों वाले
धन के मद से मदमाते धनिकों के मुख
है तृष्णा, अब तू कृतार्थ हो
और छोड़ हमारा पल्ला
इस जीवन का ही अब हम
छोड़ रहे हैं पल्ला।

•••

संस्कृत परिषद् पुस्तकालय
पु० क्र...
संस्कृत विभाग विश्वविद्यालय

श्लोकानुक्रमणिका

१. अङ्गुल्यग्रनिरोधनस्तनुतरां २०१
२. अङ्गुष्ठाक्रमवक्रिताङ्गुलि १७५
३. अग्रेतप्तजला नितान्तशिशिरा २०९
४. अच्छा वद तवसंगीर्भिराभिः ४७
५. अद्याशनं शिशुजनस्य १०२
६. अध्वश्रमाय चरणौ २८५
७. अनध्यवसिताव ३१३
८. अनसि सीदति सैकत १२७
९. अनिद्रो दुःस्वप्नः २५१
१०. अन्तर्मन्युविभिन्न दीर्घ १९९
११. अन्योन्याहतिदन्त १९७
१२. अभिक्रन्दस्तनय ५३
१३. अभिमतमहामानग्रन्थि २९६
१४. अभिलषसति पद्मयोनौ २९७
१५. अमी व्यर्थारम्भा २०६
१६. अमीषां प्राणानां २४६
१७. अम्बा तुष्यति न मया १११
१८. अयि क्षुद्रो मा २५९
१९. अयं पटो मे पितु ३०३
२०. अयं शून्यो ग्रामः १९४
२१. अर्याणामीशिषे त्वं २८९
२२. अरण्यरुदितं कृतं २४७
२३. अरण्यान्यरण्यान्यसौ ३३
२४. अर्वाची सुभगे भव १८
२५. अश्वो वोळ्हा ३२
२६. असम्बाधं बध्यतो ५५
२७. अस्य रण्वा स्वस्येव १
२८. अहमिव शून्यमरण्यं २०५
२९. आः कष्टं वनवास २६०
३०. आ गावोऽग्मन्नुत २१
३१. आ घा योषेव ११
३२. आञ्जनगन्धिं सुरभिं ३८
३३. आदौ वितत्य चरणौ १३९
३४. आनीतो हलसन्निधिं कथमपि १२३
३५. आपीनप्रवितारितोरु २१९
३६. आभोगिनः किमपि सम्प्रति १५१
३७. आयाते दयिते मरुस्थल ९२
३८. आ यो वना ता तृषाणो २
३९. आरात् कारीषवह्नेः १८३
४०. आलोकत्रस्तनारीकृत ८१
४१. आसारान्तमृदुप्रवृत्त २१५
४२. आ स्वमद्म युवमानो ५
४३. आहत्याहत्य मूर्ध्ना १३७
४४. आहूतो हालिकेनाश्रुतमिव १६८
४५. इक्षुत्वक्क्षोदसारा २२०
४६. इदानीं वंशीनां २१६
४७. इदानीमर्घन्ति ८०
४८. इन्द्रः सीतां निगृह्णणु १९
४९. इन्द्रो यज्वने पृणते २२
५०. उच्चैरध्ययनं पुरातनकथाः २६९

५१. उत गाव इवादन्त्युत ३५
५२. उत्तुङ्गे हिमवद्द्रुमस्य शिखरे २८३
५३. उत्सन्नच्छदिरुच्छ्वसद्वृति ७६
५४. उदीराणा उतासीना ६९
५५. उद्वेगं जनयन्ति १५०
५६. उन्नतोऽपि विशदोऽपि २५५
५७. उन्नत्यै नमति प्रभुं २४४
५८. उप ते गावाकरं ४६
५९. उपेदमुपपर्चनमासु २८
६०. उपं मा पेपिशत्तमः ४५
६१ उवासोषा उच्छाच्च १०
६२. ऋजुना निधेहि चरणौ १५६
६३. एके कुटीरकोणेऽपि २८१
६४. एकः खमेव क्षितिमीक्षते २३१
६५. एताः पङ्क्तिकलकूल २१७
६६. एतानि बालधवल प्रविहाय १३४
६७. एताश्चन्द्रोदयेऽस्मिन् ९४
६८. एतास्ता दिवसान्तभास्कर ९३
६९. एते दरिद्रशिशवः १०५
७०. एते सन्ततभृज्यमान १४७
७१. एषायुक्त परावतः १२
७२. ओर्वप्रा. अमर्त्यानिवतो ४०
७३. कट्यां चोलपटं तनौ ३२२
७४. कन्याखण्डमिदं प्रयच्छ ११८
७५. कम्पन्ते कपयो भृशं २२४
७६. कस्त्वं गत्वर २३५
७७. कामं कूले नदीनामनु १६१
७८. कार्येणापि विलम्बनं १२१
७९. कारञ्जीः कञ्जयन्तो २१०
८१. कारुरहं ततो ३१
८२. कासाञ्चिद् धवलश्चिरं १३०
८३. किं कन्दाः कन्दरेभ्यः २९१
८४. कियन्तोऽमी डिम्भाः ९६
८५. किञ्चिन्मुद्रितपासंवः २१४
८६. कुम्भीसञ्चिततण्डुला ८९
८७. कूष्माण्डी विटपः ११३
८८. कूजत्क्रूरकपाट २३८
८९. कृत्वा पापान्यपि खलु ३२०
९०. कृत्वा पुष्टतटे २२५
९१. केदारे नववारिपूर्णजठरे १००
९२. कैश्चिद् वीतदयेन १४६
९३. कौपीनं वसनं २६५
९४. क्रोशन्तः शिशवः सवारि ८५
९५. क्व भ्रातश्चलितोऽसि २४०
९६. क्षारं राद्धमिदं किमद्य १२२
९७. क्षुत्क्षामः कुलपुत्रको ९९
९८. क्षुत्क्षामस्तनयो २९५
९९. क्षुत्क्षामाः शिशवः १०९
१००. क्षेत्रस्य पते १४
१०१. क्षेत्रस्य पतिना वयं १३
१०२. क्षेत्रोपान्तपलायमान १६७
१०३. गङ्गातीरतरङ्ग २८०
१०४. गच्छामिगच्छामि दिनं २३०
१०५. गन्तुं सत्वरमीहसे यदि २०२
१०६. गर्वायन्ते पलालं प्रति १६६
१०७. गात्रैर्गिरा च विकलः २८८
१०८. गात्रं सङ्कुचितं २९४
१०९. गामङ्गैष आह्वयति ३६
११०. गावो भगोगाव २५
१११. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ६३
११२. गुरुर्नायं भारः १३१
११३. गेहाजिरेषुनवशालि ९५
११४. गेहं दुर्गतबन्धुभिर्गुरुगृहं २५४
११५. ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय १९२
११६. ग्रीष्मोष्मप्लोषशुष्यत्पयसि १८८
११७. घासग्रासं गृहाण २५८

११८. चलत्काष्ठं गलत्कुड्यम् ७३
११९. चलेषु स्वामिचित्तेषु २५०
१२०. चिन्तां मुञ्च गृहाण २६२
१२१. चिन्वानाभिर्मधूकं २०३
१२२. चुल्लीसीमनि ११६
१२३. जरतीभिरोषधीभिः ३०
१२४. जरदम्बरसंवरणविधौ ११२
१२५. जाताः पान्थनखम्पचा २०८
१२६. जातोक्षोत्सुकगृष्टि भी ८३
१२७. तपुर्जम्भो वन आ ७
१२८. तप्ता मही विरहिणामिव २१२
१२९. तमोध्वतापेन च २३१
१३०. तस्मिन्नेव गृहोदरे ७९
१३१. तावद्वाचः प्रयुक्ता मनसि २१८
१३२. तावद् विद्यानवद्या ३१७
१३३. तिर्यक्तीक्ष्णविषाण १२६
१३४. तिष्ठन्तु क्षिति १४५
१३५. तैस्तैर्जीवोपहारैरिह १७६
१३६. त्यक्तोविन्ध्यगरिः पिता २५७
१३७. तोयं निर्मथितं घृताय २५२
१३८. त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति ६६
१३९. त्वं क्रीतोऽसि मया १४१
१४०. त्वं बद्धोऽसि च मद्गुणैः १४३
१४१. त्वं राजा वयमप्युपासित २८८
१४२. दन्ताःसप्त चलं १२९
१४३. दलिते पलालपुञ्जे वृषभं १७३
१४४. दाराः पुत्राः परमसुहदो ३३१
१४५. दारिद्र्यगृध्रपरिभुक्त ११०
१४६. दारिद्र्यात् पुरुषस्य ३०१
१४७. दारिद्र्याद्धियमेति ३००
१४८. दिवो नो वृष्टिं ५२
१४९. दीनादीनमुखैरशक्त २९२
१५०. दूये कान्ताकरंवीक्ष्य ३०४
१५१. दूरादेव कृतोञ्जलिर्न २००
१५२. दुरुपहितहलेषासार्गल १७०
१५३. दृष्टं दुर्जनचेष्टितं ३१६
१५४. देवे कुर्वति दुर्दिनव्यतिकरं २५६
१५५. देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता १०८
१५६. द्वारं गृहस्य पिहितं ११७
१५७. द्वारे रुद्धमुपेक्षते कथमपि २३९
१५८. धनं यदि गतं ३०५
१५९. धन्यानां वरपूरित ३०६
१६०. धावित्वा सुसमाहितेन २५३
१६१. धूमप्रायः प्रतिमुहुरति २२६
१६२. धूमेन रिक्तमपि ७५
१६३. न खनति खुरैः क्षोणीपृष्ठं १३५
१६४. न तथा नागरस्त्रीणां १५५
१६५. न ता अर्वा २४
१६६. न ता नशन्ति २३
१६७. न ध्वानं कुरुषे १३२
१६८. न नटा न विटा २९३
१६९. ननान्दा सानन्दा ३१८
१७०. न ब्रूषे पुरूषं न जल्पसि १४०
१७१. न भिक्षा दुर्भिक्षे पतति ११४
१७२. न याति समतां समैः ३०७
१७३. न वा अरण्यानिर्निहन्त्य ३७
१७४. नाना नं वा उ नो २९
१७५. निःशुल्कं यत् २७४
१७६. निः स्नेहः पतिरुज्झिता १२०
१७७. नि ग्रामा सो अविक्षत ४३
१७८. निधिं बिभ्रती बहुधा ७१
१७९. निर्वृष्टेऽपि बहिर्घने १०७
१८०. निरुस्वसारमस्कृतोषसं ४१
१८१. नीताःपुण्याग्निगेहे ३२७
१८२. नीयन्ते दिवसाः १९५
१८३. नो चित्सहोजा अमृतो ४

१८४. नो बद्धं शरदिन्दु ३०९
१८५. पङ्.कात्तैरपरीयवस्त्र ९७
१८६. परिग्रहभराक्रान्तं २८६
१८७. परिचुम्बनाय घटते १६९
१८८. पाकक्षामतिला: २२९
१८९. पाखण्डानि सहस्रशो ३२४
१९०. पाषाण: कुलिशा २०४
१९१. पितृभि: कलहायन्ते २७१
१९२. पीठा: कच्छपवत् तरन्ति ८४
१९३. पुण्याग्नौ पूर्णवाञ्छ: १८५
१९४. पुण्ये ग्रामे वने वा २९०
१९५. पृष्ठारोपितकर्पटस्य १९६
१९६. पैशुन्यं न हि कर्णयामि १४२
१९७. पोतानेतानपि गृहवति १०६
१९८. प्रजावती: सूयवसं २७
१९९. प्रतिगतमर्थिजनानां २११
२००. प्रम्लाना सरसत्वमेति २३४
२०१. प्रवाता वान्ति पतयन्ति ५०
२०२. प्रात: क्षालितलोचना २७०
२०३. प्रातर्वाष्पाम्बुविन्दु १८२
२०४. प्रान्ते पङ्.किनि पल्वलस्य १६२
२०५. प्रायो दरिद्रशिशव: १०३
२०६. प्रावरणैरङ्.गारैर्गर्भगृहै: २२२
२०७. प्रामाण्यमाक्षिपति २७६
२०८. बारं बारं तुषारानिल २२३
२०९. ब्रीहि: स्तम्बकरि: प्रभूतपयस: ८७
२१०. भद्रं ते सदृंशं १७१
२११. भद्रे वाणि ममानने २६७
२१२. भवा वरूथं गृणते ८
२१३. भासार्कस्य हतप्रभम् ८८
२१४. भिक्षापुस्तकवस्त्रपात्र ३२३
२१५. भूम्यां देवेभ्यो ददति ६७
२१६. भेतव्यं नृपतेस्तथा २४८
२१७. भ्रात: पान्थ प्रसीद १९३
२१८. भ्राम्यच्चीत्कारचक्र १९१
२१९. मत्ता वित्तमदैर्दुराग्रह १४४
२२०. मद्गेहे मुसलीव ७७
२२१. मधुमतीरोषधीधाव १५
२२२. मध्याह्नार्कक्वथित २०७
२२३. मन्दिरमधिनरतरुण: १७४
२२४. मन्दं मुद्रितपासंव: २१३
२२५. माकन्देषु न यद्यपि ३११
२२६. मातधर्मरते दयां कुरु १८६
२२७. मार्गे दुर्गमकर्दमे १२८
२२८. मारोदीश्चिरमेहि १०४
२२९. मार्ग देहि पदं निधेहि १७९
२३०. माल्यं मूर्धनि कर्णिका १५४
२३१. माषीणं मुषितं यवेषु १६४
२३२. माषैर्वीमांसलितां तिलैस्तिल १६५
२३३. मूले लोलकीरकन्द १६३
२३४. मूले हरिनित किञ्चित् २२७
२३५. मेघाटोपै: स्तनितसुभगं १७७
२३६. यत् ते मध्यं पृथिवी ६४
२३७. यस्य व्रते पृथिवी ५१
२३८. यस्यादौ व्रजमण्डनस्य १३३
२३९. यस्यामाप: परिचरा: ६१
२४०. यस्यामीति गिर: १०१
२४१. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति ७०
२४२. यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति ६५
२४३. यस्यां पूर्वे पूर्वजना: ५९
२४४. यस्यां समुद्र उत ५६
२४५. या पाणिग्रहलालिता २६८
२४६. यामश्विनावमिमातां ६२
२४७. यामाराद्धुं न गणितमिदं ३१९
२४८. यां रक्षन्त्यस्वप्ना ५९
२४९. यान्ति शुचमकृतदारा २७३

२५०. याणविधिं सलिलमग्र ६०
२५१. यावद् दु:स्थकुटुम्बिनी ७८
२५२. यावयावृक्यं वृकं ४४
२५३. यासां वलिर्भवति २९८
२५४. यूयं गावो २६
२५५. ये ग्रामा यदरण्यं ७२
२५६. येषां वल्लभया समं ३०८
२५७. यो नीवारतृणाग्र २६३
२५८. य: स्तब्धं दिवसान्त २६४
२५९. रज्जुच्छेदरयोन्नमद् १८१
२६०. रथीव कषयाश्वां ४९
२६१. रथ्याकार्पटिकै: २६६
२६२. रथ्यारजोरुणित ९८
२६३. रात्री व्यख्यदायती ३९
२६४. रुन्धान: कर्णसंधी १८४
२६५. लग्न: शृङ्गयुगे गृही १२५
२६६. लघुनि तृणकुटीरे १७२
२६७. वन्ध्येत्याहुस्तरुणीं २७२
२६८. वप्तुं प्रोत्सहमान १३६
२६९. वर्षा: कर्दमहेतव: ३१०
२७०. वहति न पुर:कश्चित् ३१२
२७१. वाताकीर्णविशीर्ण १९०
२७२. वामस्कन्धनिषण १७८
२७३. विकसामि रवावुदिते ३१५
२७४. वि ज्योतिषा वृहता ३
२७५. विलासमसृणोल्लसन् १४९
२७६. वि वातजूतो अतसेषु ६
२७७. वि वृक्षान् हन्त्युत ४८
२७८. विश्वम्भरा वसुधानी ५८
२७९. वृथा दुग्धोऽनड्वान् ३२६
२८०. वृद्धोऽन्ध: पतिरेष ८६
२८१. वृषारवाय वतते ३४
२८२. वेश्यावेश्मसु २७९
२८३. वैराग्यैकसमुन्नता ९०
२८४. व्यर्थात्यर्थगतागतव्यतिकरै २३७
२८५. व्यासादीन् कविपुङ्गवान् २७५
२८६. शश्वच्चर्मटावरुद्धनयन: १२४
२८७. शलिच्छेदसमृद्धहालि १४८
२८८. शीतार्तिप्रसरश्लथा १५८
२८९. शीतकालसमृद्भिन्न २२२
२९०. शिलाभूमिरश्मा पांस ६८
२९१. शीतेनोदघृषितस्य २२८
२९२. शुनं न: फालावि २
२९३. शुनं वाहा:शुनं नर: १६
२९४. शुनाशीराविमां १७
२९५. शून्यग्रामटिकोपकण्ठ १५९
२९६. शून्ययार्थैर्वचनैमया न २४३
२९७. शैलेर्बन्धयति स्म ३१४
२९८. श्वश्रू: पश्यति नैव ११९
२९९. सक्तून् शोचति सम्प्लुतान् ९१
३००. सङ्गं नैवहिं कश्चिदस्य ३०२
३०१. सत्यं न मे विभवनाश २९९
३०२. सद्यो विभिद्यते नूनं २८४
३०३. सप्रस्वेद:पुलकपरूष: २४२
३०४. सर्वाशारुधि दग्धवीरूधि १८९
३०५. सत्यं बृहदृतमुग्र ५४
३०६. सह वामेन ९
३०७. सहोदयव्यया पञ्च २८२
३०८. साक्रन्दा शिशव: ११५
३०९. सानो अद्या यस्या ४२
३१०. सिद्धार्था फलसूचिबन्ध १५३
३११. सीमान्तास्तुहिनागमे १५२
३१२. सुप्ताकर्षणदाम २३६
३१३. सेवाव्रते प्राय इवोपविष्ट २३२
३१४. सेवा श्ववृत्तिरुक्ता २४९
३१५. स्थूलप्रावरणोऽतिवृत्तकथन: ८२

३१६. स्नानं सिन्धु जले २७८
३१७. स्नायं स्नाय २७७
३१८. स्वच्छन्दं हरिणेन या २६१
३१९. स्वैरं कीकटदारक: १५९
३२०. स्वैरं चक्रानुवृत्या १८०
३२१. स्वैरं सञ्चरति प्रदोष १९८
३२२. संविष्टो ग्रामदेव्या: १८७
३२३. हन्ति स्थूणाश्चरण १३८
३२४. हलाग्रोत्कीर्णायां १६०
३२५. हसति हसति स्वामिनि २४१
३२६. हसति हसति स्वामिन्युच्चै २४५
३२७. हस्तप्राप्यतृणणोज्झिता: ७४

संस्कृत परिषद् पुस्तकालय
पु० क्र. I 1664
संस्कृत विभाग विश्वविद्यालय सागर

राधावल्लभ त्रिपाठी

जन्म : 15.02.1949, मध्यप्रदेश के राजगढ़ जिले में.
शिक्षा : एम.ए.; पी-एच.डी.; डी. लिट्.
कार्यानुभव : 1970 ई. से विश्वविद्यालय में अध्यापन. बाईस शोध छात्रों का पी-एच.डी. के लिए सफल निर्देशन.
प्रकाशन : अब तक संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी में 84 ग्रंथ प्रकाशित. इनमें आदिकविर्वाल्मीकिः (संस्कृत में, 1986), संस्कृत कविता की लोकधर्मी परंपरा (1986, द्वितीय सं. 2000), काव्यशास्त्र और काव्य (1987), लेक्चर्स ऑन नाट्यशास्त्र (1992), नाट्यशास्त्र और विश्व रंगमंच (1998) तथा नाट्यशास्त्रविश्वकोश (चार खण्डों में, 1999) आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं. शोधपत्रिकाओं में 130 शोधलेख तथा लगभग सौ अन्य समीक्षात्मक लेख प्रकाशित. किशोरावस्था से ही संस्कृत तथा हिंदी में रचनात्मक लेखन. संस्कृत में दो शोधकृतियों के अतिरिक्त तीन काव्य-संग्रह, एक पूर्णाकार नाटक 'प्रेमपीयूषम्' तथा एक एकांकी संग्रह 'प्रेक्षणसप्तकम्' प्रकाशित. हिंदी में तीन कहानी- संग्रह, एक उपन्यास तथा दो पूर्णाकार नाटक प्रकाशित. हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में पैंतीस मौलिक कहानियाँ छपीं, इनमें से कुछ मराठी और मलयालम में अनूदित और प्रकाशित हुईं. संस्कृत में लिखी मौलिक कहानियों में से एक हिंदी और तेलगु में अनूदित तथा प्रकाशित हुई. पंद्रह संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवाद किए, इनमें से कुछ प्रख्यात रंगकर्मियों के द्वारा मंचित. हिंदी में विरचित मौलिक नाटक ब.व.कारंत, देवेन्द्रराज अंकुर आदि जाने-माने निर्देशकों के निर्देशन में खेले गए.
पुरस्कार व सम्मान : राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के पंद्रह पुरस्कार जिनमें उत्कृष्ट शोधकार्य के लिए एशियाटिक सोसायटी बम्बई का म.म.पी.व्ही. काणे स्वर्ण पदक (1989), अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का पुरस्कार (1972 तथा 1988), 'कालिदास की समीक्षा परंपरा' पुस्तक के लिए म.प्र. संस्कृत अकादमी का भोज पुरस्कार (1992), 'लहरीदशकम्' के लिए उ.प्र. संस्कृत अकादमी का कालिदास पुरस्कार (1993), 'सन्धानम्' संस्कृत काव्य-संग्रह के लिए साहित्य अकादमी नई दिल्ली का पुरस्कार (1994), हिंदी अकादमी कलकत्ता का राष्ट्रीय हिंदी रत्न सम्मान (1994) व कनाडा का रामकृष्ण संस्कृत पुरस्कार (1998) तथा के.के. बिड़ला ट्रस्ट का शंकर पुरस्कार उल्लेख्य हैं.
संप्रति : आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.).

ISBN : 81-7365-120-5

रामकृष्ण प्रकाशन
'सावित्री सदन'
तिलक चौक, विदिशा 464 001 म.प्र.